भवन्स नवनीत

अप्रैल 2020

30 रुपये

समय ... साहित्य ... संस्कृति ...

हम भारत के लोग....

भीड़ की मानसिकता

भौतिक विज्ञान की प्रगति के परिणामस्वरूप मनुष्य को इतनी ताकत मिल गयी है कि वह लाखों लोगों को नष्ट कर दे या उन्हें आज्ञाकारी मशीनों में बदल दे. इसका फल यह हुआ है कि स्वतंत्रता के लिए शपथ-बद्ध बड़े-बड़े देशों में स्वतंत्र व्यक्ति का समूल नाश हो गया है और विचार की स्वतंत्रता कठोर और निर्मम नियंत्रण में आ गयी है. आज जितने विचारशील व्यक्ति दूसरे देशों में शरण लिये हुए हैं, उतने इतिहास में पहले कभी नहीं थे. दुनिया के कुछ हिस्से आज कट्टरपंथी घृणा और क्रूर सत्ता के कारण जैसे पागल हो गये हैं. ऐसा व्यक्ति जो अपने विचारों का मंथन करना चाहता है, और अपने तरीके से जीना चाहता है, उसके लिए कहीं कोई जगह नहीं है– विश्वविद्यालयों में भी नहीं. यह सारी व्यवस्था उसे अपने ढंग से न जीने देना चाहती है, और न ही स्वयं को समझने का अवसर देती है. आज जिस तरह से बुद्धिजीवी अपनी स्वतंत्रता गिरवी रख रहे हैं, वह मानवीय भावना के इस संकट का प्रकटीकरण ही है. उनकी स्थिति ऐसी हो गयी है जैसे वे सोचने की मेहनत से ही बचना चाहते हैं. आज स्वतंत्रता का स्थान 'नेता का अनुगमन करो' ने ले लिया है– यह भीड़ की मानसिकता है, जो व्यक्ति ने स्वयं अपने पर ओढ़ी है.

(कुलपति के.एम. मुनशी भारतीय विद्या भवन के संस्थापक थे)

विचार और भावनाएं

विचार भावनाओं को जन्म देते हैं. विभिन्न विचार हमारे मन में पनपते रहते हैं जिनमें कुछ सकारात्मक होते हैं तो कुछ नकारात्मक. लेकिन हम अपने मस्तिष्क में उठनेवाले इन विचारों के प्रवाह को नियंत्रित नहीं कर पाते. ये विचार हमारी भावनाओं को उत्प्रेरित करते हैं. विचारों का प्रभाव, इनका परिणाम भावनाओं को पैदा करने में सभी महत्वपूर्ण हैं. मन की उस अवस्था को प्राप्त करना कठिन है जो विचारों को रोके. हम सदैव शुभ विचारों का आनंद लेते हैं और उन्हें बनाये रखते हैं किंतु नकारात्मक विचारों को बनाये रखना नहीं चाहते हैं. यहां हमारी भावनाएं महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं. विचारों और भावनाओं के बीच का संबंध अविभाज्य है. विचारों के प्रवेश और निकास या विचारों के प्रवाह से विभिन्न प्रकार की भावनाएं पैदा होती हैं, जैसे कि खुशी, क्रोध, उदासी, भय, लाचारी, निराशा, संतोष आदि.

हमारी भावनाएं हमारे व्यक्तित्व को प्रभावित कर सकती हैं. इसलिए हमें अपनी भावनाओं पर नियंत्रण रखना चाहिए, चाहे वे आंतरिक हों या बाहरी. एक बीमार व्यक्ति में वह इच्छाशक्ति या साहस होना चाहिए कि वह परिस्थिति का सामना करे और संयम बनाये रखे. उसका यह सकारात्मक सोच और स्वभाव उसे स्वस्थ करने में सहायक होता है. भावनाएं हमारे दृष्टिकोण का हिस्सा बन जाती हैं. डर के दौरान जो हमारी प्रतिक्रिया होती है वह उससे

भिन्न होगी जबकि हम खुश हों. इस प्रकार विचार अप्रत्यक्ष रूप से हमारे दृष्टिकोण को भी प्रभावित करते हैं.

हमारी इंद्रियां भी हमारी भावनाओं में अपना योगदान देती हैं. यह माता-बालक के संबंधों में भलीभांति देखा-समझा गया है. स्पर्श, स्वाद, श्रवण सभी भावनाओं में योगदान देते हैं. यदि हम जान लें कि हमारे विचार, मन को कैसे प्रभावित करते हैं, तो हम अपने प्रदर्शन में उत्कृष्टता प्राप्त करने में सक्षम हो सकेंगे. नकारात्मक विचारों से अपने ध्यान को भटकने नहीं देना चाहिए. सकारात्मक विचार हमारे प्रदर्शन को उत्कृष्ट बनाने में सहायता करते हैं.

रमण महर्षि मस्तिष्क से शरीर की पहचान का सुझाव देते हैं. उनके अनुसार, सजग व्यक्ति विचारों के इस प्रवाह से बच पाने में सक्षम है और इससे उसे आत्मा की गहराई तक जाने में सहायता मिलती है.

विचार सुख या दुःख के मूल हैं लेकिन भावनाएं सापेक्ष हैं. विचारों को अपने मस्तिष्क में आने-जाने दें, मस्तिष्क को अपनी भावनाओं को नियंत्रित करने दें.

सुरेन्द्र लाल मेहता

(सुरेंद्रलाल जी. मेहता)

अध्यक्ष

भारतीय विद्या भवन

भवन्स
नवनीत
समय... साहित्य... संस्कृति...

68 वर्षों की समृद्ध परम्परा की अगली कड़ी

वर्ष : 5 अंक : 8 ● अप्रैल 2020

संस्थापक

कनैयालाल मुनशी ♦ श्रीगोपाल नेवटिया

सम्पादक

विश्वनाथ सचदेव

सहायक सम्पादक

राधारमण त्रिपाठी

प्रसार - सहायक

आज़ाद आलम

सज्जा - **गौरी कानडे**

कार्यालय सहायक - **हंसमुख परमार**

सम्पादकीय कार्यालय

भारतीय विद्या भवन

क.मा. मुनशी मार्ग, चौपाटी, मुंबई 400007

फ़ोन : 022-23634462/ 1261/ 1554

फ़ैक्स : 022-23630058

प्रसार विभाग : 022-23514466/23530916

ई-मेल : navneet.hindi@gmail.com

bhavansnavneet@gmail.com

एक नज़र

<u>आवरण-कथा</u>

<u>कथा</u>

<u>कविताएं</u>

<u>समाचार</u>

पाठकनामा

प्राचीन युग की शुरूआत में हमारे पूज्य ऋषि मुनियों ने बसंत ऋतु का सटीक, शाश्वत और सच्चा आकलन किया था. प्रकृति की भव्य सौगात बसंत ऋतु में जीवजंतु और मानव प्राणी का हृदय गद्‌गद हो जाता है. खेतों में लहराते पीले-पीले सरसों के पौधों में से जो स्वादिष्ट महक आती है उसी से मानव का चेहरा खिल जाता है. बसंत ऋतु कृत्रिम रुप से नहीं बन सकती यह नैसर्गिक प्राकृतिक सम्पदा है जो भारतीय संस्कृति की बहुमूल्य विरासत है. इसी अंक में ...तब बसंत आता है.

सम्पादकीय में बसंत के पावन पुनीत त्यौहार की वास्तविकता की परिभाषा को महत्वपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त किया गया है. प्रकृति ने मानव के जीवन में सौंदय के प्रेम को बेहतरीन ढंग से चहकने-महकने का आगाज किया है. धन्य है प्रकृति जिसने पृथ्वी पर ममता, मैत्री, एकता, समता और बंधुता को परोसा है. इसी अंक में स्मृतियों की पुकार, मेरा वाला बसंत कहां है?, रग-रग में इतना रंग भरा कि रंगीन चुनरिया झूठी है!, आना बसंत का दबे पांव, है मेरे बसंत, पंछी ऐसे आते हैं और लुप्त होने के कगार पर बसंत प्रकृति की छटा के विविध रूपों, परिस्थितियों, अवसादों पेड़ पौधों की हरियाली का उम्दा वर्णन करके आज के युवाओं का युवा बसंत जाग उठता है. प्रखर लेखकों के लेख से बसंत के जीवन के यथार्थ के भावों का उद्‌बोधन सराहनीय व वर्णनीय लगा है.

● डॉ. जसवंत सिंह, जनमेजय, दिल्ली

आपकी पत्रिका नवनीत सामयिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक संदर्भों की सकारात्मक पत्रिका है. मैं इसकी बहुत व्याकुलता से प्रतीक्षा करती हूं और पूरी पत्रिका को न केवल पढ़ती हूं, अपितु संभालकर रखती भी हूं. वस्तुत: हर अंक संकलन के योग्य होता है, और शोधार्थियों के लिए उपयोगी और मार्गदर्शक भी.

साहित्य की इस समृद्ध परम्परा के निर्वहन और हिंदी की पत्रिकाओं में अग्रणी स्थान बनाने के आपके प्रयास निस्संदेह प्रशंसनीय हैं. मेरी हार्दिक बधाई एवं शुभकामनाएं.

● डॉ. कमल चतुर्वेदी, विदिशा (म.प्र.)

नवनीत का फरवरी अंक देखा. 'आया झूम के बसंत झूमो संग-संग में' यह फिल्मी गीत बारबार याद आया. बसंत में सरसों,

गेंदा ही नहीं पूरी प्रकृति बसंतमय हो जाती है. एक मादकता, एक उल्लास, प्रकृति के रग-रग में निखार का नाम ही बसंत है.

बसंत सिर्फ उल्लसित होने का ही पर्व नहीं है, बल्कि यह भक्तिमय होने को भी प्रेरित रहता है. प्रकृति से प्रेम का पर्व है. मां सरस्वती भी अपनी वीणा के साथ धरती पर इसी समय अवतरित होती हैं तो औघड़दानी भोलेबाबा पर तो बसंत का ऐसा असर हुआ कि मां पार्वती से शादी रचाने के लिए इसी मौसम को चुनते हैं. बसंत की मादकता प्रत्येक जीव को सराबोर कर देती है. इतने अच्छे लेख पढ़कर प्रत्येक पाठक भी एक बासंती खुमार में झूमने को विवश हो जाता है.

'भारतीय होने के अर्थ या अनर्थ' में लेखक का यह कहना कि एक भारतीय हिंदू नागरिक जिस प्रकार श्रद्धा से मंदिर जाता है वैसी ही श्रद्धा वह मजार, गुरुद्वारा एवं चर्च में भी दिखता है, मत्था टेकता है, बिल्कुल सही है. भारतमाता इसी वजह से ज़िंदा भी हैं वरना हिंदू मंदिर में एक हिंदू के अलावे और कौन जाता है मत्था टेकने! हाल के दिनों में विरोध और हिंसा का जो तांडव देखने को मिला, वह असली या सच्ची भारतीयता को परिभाषित कर गया.

छठ पूजा के सम्बंध में कहना चाहूंगा कि छठ पूजा मूलत: बिहार का ही पर्व है. बिहार से बाहर सिर्फ बिहारी या बिहारी के सम्पर्क में आये कुछ लोग ही इसे मनाते हैं. इसलिए लेखक का कहना कि यह पूर्वीभारत का पर्व है, सहमत नहीं हो सकता.

नवनीत में कहानियों का चुनाव काफी अच्छा होता है लेकिन आप यात्रा-कथा नहीं देते हैं. कृपया इसका भी ख्याल रखें.

● विजय कुमार सिंह, पटना, बिहार

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। वेदो नित्यमधीयताम्।
ेदाः वयं वः शरणं प्रपन्नाः। वेदा ये नः परं धनम्।।

अद्वैत विद्याचार्य महाराजा साहेब

ाोविन्द दीक्षितर पुण्य स्मरण समिति (पंजीकृत)

द दीक्षिता घटिका स्थानम' 29-30, ईस्ट अयन स्ट्रीट, (प्रवेश योगासलाई मार्ग से) कुम्बकोणम्,
लनाडु-612001 भारत. टेली नं. (कार्यालय) (0435) 2425948, 2401789,
शाला: 2422866, 2401788, Email: rajavedapatasala@gmail.com
Website: www.rajavedapatasala.org

निहित धरोहर को प्राचीन पारम्परिक गुरुकुल प्रणाली द्वारा सुरक्षित रखने के लिये निवेदन

ला, कुम्बकोणम् की स्थापना ई.स. 1542 में तीन नायक राजाओं के प्रधानमंत्री **संत अद्वत ावद्याचाय महाराजा साहेब भगवान श्री गोविन्द दीक्षितर** ने की. यह तांजोर स्थित पवित्र कावेरी नदी के दक्षिणी तट पर स्थित है. जिसका उद्देश्य है वेदों और शास्त्रों का प्रचार-प्रसार. यह तमिलनाडु स्थित पूरे भारत वर्ष में एकमात्र पाठशाला है, जो बिना ि

पहली सीढ़ी

।।आ नो भद्रा: क्रतवो यन्तु विश्वत:।।

क्षण भर रुको तो, उसको जगा लें

● अज्ञेय

केंचुलें हैं, केंचुलें हैं, झाड़ दो!
छल-मकर की तनी झिल्ली फाड़ दो!
सांप के विष-दांत तोड़ उखाड़ दो!

आजकल का चलन है– सब जंतुओं की खाल पहने हैं–
गले गीदड़-लोमड़ी की,
बाघ की है खाल कांधों पर
दिल ढंका है भेड़ की गुलगुली चमड़ी से
हाथ में थैला मगर की खाल का
और पैरों में–
जगमगाती सांप की केंचुल बनी है श्री चरण का सैंडल

किंतु भीतर कहीं
भेड़-बकरी, बाघ-गीदड़, सांप के बहुरूप के अंदर
कहीं पर रौंदा हुआ अब भी तड़पता है
सनातन मानव– खरा इनसान
क्षण भर रुको तो उसको जगा लें!
नहीं है यह धर्म, ये तो पैंतरे हैं उन दरिंदों के
रूढ़ि के नाखून पर मरजाद की मखमल चढ़ाकर
जो विचारों पर झपट्टा मारते हैं–
बड़े स्वार्थी की कुटिल चालें!
साथ आओ–
गिलगिले ये सांप बैरी हैं हमारे इन्हें आज पछाड़ दो
यह मकर की तनी झिल्ली फाड़ दो
केंचुलें हैं, केंचुलें हैं, झाड़ दो!

सम्पादकीय

मनुष्यता का तकाज़ा

'हम भारत के लोग' ये चार शब्द जब भी बोले जाते हैं, हमारे सामने वह संविधान आ जाता है जो सत्तर साल पहले हमने अपने गणतंत्र के लिए अंगीकृत किया था. समता, स्वतंत्रता, न्याय और बंधुता के चार खम्भों पर खड़े हमारे संविधान के प्रमुख शिल्पी बाबासाहेब आंबेडकर ने इस संविधान को अंगीकृत करने के एक दिन पहले संविधान सभा में कहा था, 'संविधान कितना भी अच्छा क्यों न हो, उसकी सार्थकता देश के नागरिकों पर निर्भर करती है.' देश के नागरिक यानी हम भारत के लोग—विभिन्न धर्मों, जातियों, वर्गों, सम्प्रदायों वाले 130 करोड़ भारतीय. हम में से हर भारतीय का सोच और व्यवहार ही यह तय करेगा कि हम अपने संविधान के प्रति ईमानदार हैं या नहीं. इस ईमानदारी की कसौटी सिर्फ यह है कि हम अपने आप को क्या मानते हैं– हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई या बंगाली, मराठी, तमिल, असमिया, गुजराती आदि या भारतीय?

गलत नहीं हैं ये सारे नाम जो हमने स्वयं को दिये हैं, धर्म या जाति या भाषा भी हमारी पहचान हैं, लेकिन हमारी पहचान इन सबसे कुछ बड़ी है. हम इन सबसे पहले भारतीय हैं. यही है वह विभिन्नता में एकता जिसपर हम गर्व कर सकते हैं, करते हैं. हमारा धर्म, हमारी जाति, हमारा वर्ण, हमारी भाषा, हमारा क्षेत्र, ये सब विभिन्न रंगों के वे फूल हैं जो अपनी तरह-तरह की मोहक गंध से हमारे बगीचे को अर्थ देते हैं. हम इन सब रंगों पर, इन सब गंधों पर गर्व कर सकते हैं, लेकिन गर्व का यह अहसास तब विषैला हो जाता है, जब हम अपने आप को भारतीयता के रंग या भारतीयता की गंध से अलग करके अपनी अलग-अलग पहचानों के संकुचित दायरों में सिमट जाते हैं. छोटा बना लेते हैं खुद को. यही छोटापन कभी जातीय दंगों के रूप में सामने आ जाता है और कभी हमें धर्म के नाम पर एक-दूसरे का दुश्मन बना देता है. हाल के दिनों में

राजधानी दिल्ली में जो कुछ हुआ उससे हम भारत के लोग एक बार फिर बौने ही सिद्ध नहीं हुए, कलंकित भी हुए हैं. यह पहली बार नहीं है जब देश के किसी हिस्से में साम्प्रदायिकता की ज़हरीली आंधी ने अपना असर दिखाया है. 'गोली मारो' जैसे नारे लगाने वाले अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिए जब-तब हमारी भारतीयता को, हमारी मनुष्यता को चुनौती देते रहते हैं, और 'हम भारत के लोग' अक्सर ऐसे तत्वों के खतरनाक इरादों के शिकार बन जाते हैं. हमारे भीतर की मनुष्यता पर हावी हो जाते हैं ये खतरनाक इरादे. हम भूल जाते हैं कि हम जिसको अपनी नफरत का शिकार बना रहे हैं, वह भी हमारी तरह का ही इंसान है; उसके खून का रंग भी लाल है; वह भी हमारी तरह बेहतर ज़िंदगी के सपने देखता है. हमें याद नहीं रहता कि धर्म और जाति के नाम पर पलने वाली नफरत किसी पराये पर नहीं, हमारे ही भीतर के इंसान पर, हमारी इंसानियत पर हमला करती है.

आखिर कौन हैं वे जो इस नफरत की आग पर अपने स्वार्थों की रोटियां सेंकते हैं? वे जो भी हैं, इंसानियत के दुश्मन हैं. इनके हथकंडों का शिकार होने का मतलब है अपने भीतर पल रहे इंसानियत के पौधे को अपने ही हाथों से नष्ट होने देना. नहीं, नष्ट करना. अर्थात हम खुद ही अपने अपराधी बनते हैं, जब हम अपने विवेक को छोड़कर मानवीय संवेदनाओं को कुचलने वाली साम्प्रदायिक भावनाओं का हाथ थाम लेते हैं. सच बात तो यह है कि तब हम मनुष्य नहीं रहते. मनुष्य बने रहने का मतलब है अपने भीतर की करुणा, ममता, भाई-चारे की भावना, विवेक आदि को ज़िंदा रखने के लिए सतत जागरूक और प्रयत्नशील रहना. साम्प्रदायिकता की आग इन सारी मानवीय संवेदनाओं को राख कर देती है. इस आग को भड़काने वाली हर आग के खिलाफ़ खड़े होना होगा हम भारत के लोगों को. तभी भारतीयता के प्रति हम अपना दायित्व निभा पायेंगे. तभी हम स्वयं अपने अपराधी होने से बच पायेंगे.

हम भारत के लोग

● रामशरण जोशी

'अकेले राजनीतिक लोकतंत्र से काम नहीं चलता है. हमें सामाजिक लोकतंत्र भी कायम करना होगा. सामाजिक लोकतंत्र ऐसी व्यवस्था है जिसमें आज़ादी, समानता एवं बंधुत्व के सिद्धांतों पर पूरी तरह अमल होता है. हमारे देश की समाज व्यवस्था असमानता की नींव पर खड़ी है. इस व्यवस्था का अंत किये बगैर हमारे देश में सामाजिक लोकतंत्र फल-फूल नहीं सकता.' –डॉ. भीमराव आंबेडकर

देश व राष्ट्र सिर्फ भूभाग से ही नहीं, लोग और उनकी संस्कृति, सभ्यता, विरासत, इतिहास, आस्था, स्मृतियों, इंद्रधनुषी जीवन शैलियों तथा राज्य के साथ जीवंत संवाद से बनता है. इन तमाम मूलभूत तत्वों की निरंतरता ही किसी भी राष्ट्र राज्य के चरित्र और राष्ट्रों के इतिहास में उसका स्थान निर्धारित करती है. 21 वीं सदी में उन मानकों को स्वीकार नहीं किया जा सकता जिनके आधार पर एकरंगी देश हुआ करते थे और धर्म-मज़हब के आधार पर राष्ट्र और लोगों के पारस्परिक सम्बंधों को तय किया जाता था. राज्य और लोग के सम्बंध राजपक्षीय हुआ करते थे. पिछली दो सदियों में इन मानकों में आमूलचूल परिवर्तन आ

चुके हैं; आज लोग या जनता राज्य व शासन पद्धति के चरित्र की विधाता है; प्रजा से अब जनता व नागरिक में रूपांतरित हो चुकी है; लोकशाही ने राजशाही को प्रतिस्थापित कर दिया है; राजा की स्वेच्छाचारिता का स्थान संविधान सत्ता ने ले लिया है; संविधान के सांचे में शासन-प्रशासन को ढाला जाता है, संवैधानिक व्यवस्थाओं के तहत जनता के साथ राज्य को व्यवहार करना पड़ता है.

शायद 1947 में आज़ादी के बाद यह पहला दौर है जब राष्ट्रीय स्तर पर लोकतंत्र, संविधान और नागरिक पर इतनी बहुआयामी बहस चल रही है. यह भी पहला अवसर है जब लोगों को देशभक्ति, राष्ट्रवादी, देशद्रोही, राज्यद्रोही, राष्ट्रद्रोही और हम, तुम व वो की श्रेणियों में विभाजित किया जा रहा हो! कौन जनता है, किसे नागरिक कहें और कौन अनागरिक घोषित होगा, इन मुद्दों पर इतनी तीखी बहसें देश में होंगी आज़ादी के सात दशक पश्चात, इसकी कल्पना नहीं थी; संदेहों, आशंकाओं और भय के चौराहे पर खड़े हैं संविधान, लोकतंत्र और हमलोग. विभिन्न कारणों से आज संविधान और नागरिक व नागरिकता पर जितनी गम्भीर बहसें हो रही हैं, संविधान की प्रतियां खरीदी जा रही हैं, नागरिकता की चेतना का जितना विस्तार अब हो रहा है, इससे पहले कभी नहीं हुआ था. संविधान क्या होता है, इसकी प्रस्तावना क्या कहती है, इसमें नागरिक व नागरिकता का स्थान कहां है, बहुसंख्यक-वाद बनाम अल्पसंख्यक-वाद किसे कहते हैं, जनगणना किसे कहते हैं, नागरिक पंजीयन क्यों किया जाता है, समाज के सभी लोग इन तमाम तरह के सवालों पर चल रही बहसों में खुलकर शिरकत भी कर रहे हैं. प्रतिरोध के नये नये रूप सामने आ रहे हैं, बीती सदी के गांधीवादी प्रतिरोध नये प्रकार से अवतरित हो रहे हैं, भूमंडलीकरण के दौर में गांधी जी की प्रासंगिकता पुनर्जीवित की जा रही है.

स्वीकार इस सच्चाई को भी करना पड़ेगा कि इस नानारूपी विषमताओं से रुग्ण काल में बाबासाहब की बहुआयामी प्रासंगिकता का विस्तार उतना ही हुआ है जितना महात्मा का हुआ है क्योंकि संविधान के सपनों का भारत आज तक नहीं बन सका है. जब हम हज़ारों किलोमीटर दूरी के फासले पर स्थित चांद व मंगल पर देश का परचम रोपने के मंसूबे बांधे हुए हैं लेकिन अपने ही गांव के दलित दूल्हे की घोड़ी पर चढ़ कर ब्याह रचाने को बर्दाश्त नहीं कर सकते; सरे आम उसे पीटा जाता है; सवर्णों की बस्ती में स्थित कुएं या पोखर से दलितों को पेय जल नहीं लेने दिया जाता है; हिंदू धर्मशास्त्र पढ़ना योग्य मुस्लिम प्रोफेसर से मंज़ूर नहीं; गायों के साथ देखते ही मुस्लिम हमलों से घिर जाते हैं; आज भी नामंज़ूर है अंतर्जातीय विवाह. खाप पंचायतों के फरमान इसकी

तस्दीक करते हैं. इसीलिए बाबासाहब की दृष्टि में राजनीतिक स्वतंत्रता से कहीं अधिक ज़रूरी व महत्वपूर्ण था सामाजिक लोकतंत्र और स्वतंत्रता. राजनीतिक आज़ादी की जड़ें और असर तभी प्रभावशाली हो सकते हैं जब उससे लाभान्वित होने की आज़ादी से समाज के सभी वर्ग, विशेषरूप से हाशिये के लोग लैस रहेंगे. आज बंधक श्रमिकों का 95-96 प्रतिशत हिस्सा अनुसूचित जाति-अनुसूचित जनजाति समाज से आता है. आरक्षण के प्रावधानों के बावजूद नगरों-महानगरों की गंदगी को साफ़ करने वाले लोग भी इसी समाज के होते हैं. डॉ. आंबेडकर कहते हैं कि जाति प्रथा 'आध्यात्मिक और राष्ट्रीय विकास, दोनों के लिए नुकसानदेह है.' यह विषमता की जननी है. श्रम की समानता व गतिशीलता को बाधित करती है. समाज के अंतिम व्यक्ति तक राजनीतिक आज़ादी पहुंच सके, इसके मार्ग में अवरोध खड़े करती है. भारत की यथार्थवादी कल्पना को तभी मूर्त रूप दिया जा सकता है जब सामाजिक आज़ादी और राजनीतिक आज़ादी के मध्य समानता के रिश्ते रहें. 1943 में दिये गये अपने एक भाषण में उन्होंने कहा था– 'भारत में संसदीय लोकतंत्र पर विचार करना अत्यंत ज़रूरी है. भारत संसदीय लोकतंत्र प्राप्त करने के लिए बातचीत कर रहा है. इस बात की बहुत ज़रूरत है कि कोई यथेष्ट साहस के साथ भारतवासियों से कहे– संसदीय लोकतंत्र से सावधान... संसदीय लोकतंत्र इसलिए असफल हुआ कि वह आम जनता के लिए स्वतंत्रता, सम्पति और सुख-शांति सुनिश्चित नहीं कर सका. समाज में जो आर्थिक असमानताएं हैं, उनकी तरफ उसने ध्यान ही नहीं दिया. उसने ताकतवर को मौका दिया कि वह कमज़ोर को ठगता रहे. गरीबों के विरुद्ध आर्थिक-राजनैतिक अन्याय बढ़ता रहा. जो पद दलित और सम्पत्तिहीन वर्ग थे, उनके विरुद्ध आर्थिक अन्याय होता रहा. जहां सामाजिक और आर्थिक जनतंत्र न हो, वहां राजनीतिक लोकतंत्र सफल नहीं हो सकता. सामाजिक और आर्थिक जनतंत्र वे रग-रेशे हैं जिनसे राजनीतिक लोकतंत्र निर्मित होता है.' (डॉ. रामविलास शर्मा– गांधी, आंबेडकर, लोहिया और भारतीय की समस्याएं; पृ 602). इस मत से किसे असहमति है? हाल ही में उच्चतम न्यायालय के वर्तमान न्यायाधीश श्री अरुण मिश्रा ने निराशा के साथ आक्रोशित स्वरों में कहा था, 'मुझे अब इस देश में काम नहीं करना चाहिए. सुप्रीम कोर्ट को बंद कर देते हैं. देश छोड़ना ही बेहतर होगा. दौलत के दम पर वह कुछ भी कर सकते हैं. कोर्ट के आदेश भी रोक सकते हैं.' (इंडियन एक्सप्रेस, दिल्ली संस्करण, 16 फरवरी, 20).

कोई भी राष्ट्र राज्य तीन स्तम्भों पर खड़ा रहता है– कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका. न्यायपालिका के एक

माननीय सदस्य की यह संगीन टिप्पणी सम्पूर्ण संसदीय व्यवस्था को कठघरे में खड़ा करने के लिए काफी है. क्या यह सच नहीं है कि संसद और विधानसभाओं में अरबपतियों की आबादी तेज़ी से बढ़ती जा रही है? क्या यह सच नहीं है कि इसके साथ साथ विधायिका में दागी सदस्य या अपराधी (संगीन मुकदमें विभिन्न अदालतों में चल रहे हैं.) भी अपनी आबादी हर पांचवें साल बढ़ा लेते हैं. यह कैसी राजनीतिक स्वतंत्रता है? किस वर्ग के हितों के रक्षक हैं ये जनप्रतिनिधि? क्या इन लोगों के हाथों में लोकतंत्र, राष्ट्र और संविधान सुरक्षित है?

यह भी कल्पना कीजिए यदि न्यायमूर्ति अरुण मिश्रा के स्थान यदि दलित या अल्पसंख्यक समाज से सम्बंधित कोई न्यायाधीश या नेता या अभिनेता ऐसी टिप्पणी कर देता तो उस पर क्या गुजरती! सवर्ण आधिपत्य बहुसंख्यक समाज उस पर टूट पड़ता. मुख्यधारा के कतिपय चैनलों के प्राइम टाइम में उसके परखच्चे उड़ जाते; उसे राष्ट्र विरोधी-देशविरोधी घोषित कर दिया जाता. जब देश या राष्ट्र और उसकी लोकतांत्रिक व्यवस्था 'सेलेक्टिव' व 'विभेदकारी' बन जाती है तो उसके लोग भी संकटग्रस्त हो जाते हैं. राष्ट्र का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है. हम लोगों के बीच राज्य द्वारा भेदभाव को स्वीकार नहीं किया जा सकता. इस सम्बंध में प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने सटीक ही कहा है– 'हम देश के अल्पसंख्यकों को यह आश्वासन देना चाहते हैं कि उनके साथ किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जायेगा. उनके धर्म, भाषा और संस्कृति पूरी तरह सुरक्षित रहेंगे. देश के समस्त नागरिकों को हमारा आश्वासन है कि हम गरीबी व अभावों को तथा उनके साथ जुड़ी भुखमरी और बीमारी को पूरी तरह समाप्त करने का प्रयास करेंगे. शोषण का अंत हमारा लक्ष्य है. (मध्यप्रदेश सरकार द्वारा प्रकाशित 'हमारा संविधान 'पुस्तिका;

हिन्दुस्तान पेट्रोलियम कॉर्पोरेशन लिमिटेड
Hindustan Petroleum Corporation Limited

भविष्य उन लोगों का है जो अपने सपनों में यकीन रखते हैं और तब पूरा ब्रह्मांड उन सपनों को साकार करने के लिए एकजुट हो जाता है। हमें गर्व है कि एचपीसीएल में हम करोड़ों सपनों को सच में बदलने की कोशिशों का एक अभिन्न अंग हैं। हम, हर दिन, हर तरह से उनके जीवन को स्पर्श करते हैं।

हम रसोई को ऊर्जा प्रदान करते हैं जो मकान को घर का रूप देती है। हम उन पहियों में रफ़्तार भरते हैं जो अविस्मरणीय यात्रा वृतान्त लिखते हैं। हम, उन पंखों को उर्जावान बनाते हैं जिनसे सपनों की उड़ान भरी जाती है। हम, अर्थव्यवस्था को शक्ति देते हैं जो समृद्धि के पहियों को गतिमान बनाती है। हम, आपके और आपके प्रियजनों के लिए एक सुरक्षित, स्वस्थ और संधारणीय भविष्य सुनिश्चित करते हैं। हम, नवाचार से नेतृत्व और उत्तरदायित्व से दिशा ग्रहण करते हैं। हम एक 'उर्जामय कल' और 'खुशहाल जीवन' का वादा करते हैं।

एचपीसीएल में हम देते हैं खुशियों की सौगात...

पृ. आवरण 2) वास्तव में संविधान की प्रस्तावना में स्पष्ट रूप से भारतीय राष्ट्र राज्य के संकल्प को घोषित किया गया है कि 'हम, भारत के लोग' सम्प्रभुता सम्पन्न हैं और इस देश को समाजवादी पंथनिरपेक्ष लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाये रखने के लिए संकल्पबद्ध हैं. जाहिर है इसमें सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक न्याय, विश्वास, धर्म, उपासना और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए प्रतिबद्धता निहित है. राष्ट्र की एकता व अखंडता और बंधुत्त्व की भावना बनाये रखने का भी संकल्प है. जहां संविधान में नागरिकों के मौलिक अधिकारों की बात की गयी है वहीं उनसे राष्ट्र के प्रति कर्तव्यों की अपेक्षा भी रखी गयी है. इसके साथ ही राज्य के लिए नीति निर्देशक सिद्धांत भी रखे गये हैं. इसके साथ नागरिकों से यह भी अपेक्षा की गयी है कि वे वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन की भावना का विकास करेंगे. सार्वजनिक सम्पति की रक्षा करेंगे. संविधान निर्माताओं का स्पष्ट मत था कि 'नागरिकों को अधिकार प्रदान कर देना मात्र ही पर्याप्त नहीं है. यह भी आवश्यक है कि सरकार द्वारा इनका सम्मान किया जाए. यदि किसी नागरिक के प्रति अन्यायपूर्ण व्यवहार हो तो वह क्या कर सकता है? (वही, 'हमारा संविधान; पृ. 14)

लेकिन, आज क्या हो रहा है? सरकार की आलोचना को देशद्रोह या सेडिशन के रूप में निरूपित किया जा रहा है! प्रतिरोधी को 'गद्दार' कहा जा रहा है; 'गद्दारों को गोली मारो' का नारा लगाया जा रहा है; चौराहों पर प्रतिरोधियों की तस्वीरें चस्पा की जा रही हैं; उन्हें लोकतंत्र विरोधी और राष्ट्रविरोधी बताया जा रहा है. क्या शासकों-प्रशासकों की इन हरकतों से स्वस्थ लोकतांत्रिक भारत की रक्षा की जा सकती है? आखिर लोग या नागरिक सड़कों पर क्यों उतरते हैं? हाल ही में आला अदालत के एक अन्य न्यायमूर्ति धनंजय वाई. चंद्रचूड़ ने भी साफ़ शब्दों में लोकतंत्र की सफलता के लिए प्रतिरोध को ज़रूरी बताया था. उनके मत में विरोध या प्रतिरोध या असहमति एक 'सेफ्टी वॉल्व' का काम करते हैं. इसे कुचला नहीं जाना चाहिए. सरकार के विरोध को राजद्रोह या राष्ट्रद्रोह नहीं कहा जा सकता. इससे लोकतंत्र कमज़ोर होता है. राज्य हिंसा भी होती है या राज्य भी हिंसा लोगों पर लादता है, इस धारणा को भी स्वीकार करना होगा. पिछले दिनों विख्यात कथाकार व पूर्व आई.पी.एस. अधिकारी विभूति नारायण राय की पुस्तक 'हाशिमपुरा 22 मई' प्रकाशित हुई जिसमें उन्होंने स्वतंत्र भारत के सबसे बड़े पुलिस हिरासती हत्याकांड का कथात्मक शैली में खुलासा किया है... उन्होंने सिलसिलेवार बताया है कि उत्तर प्रदेश की पीएसी (सशस्त्र पुलिस

बल) ने 22 मई, 1987 की आधी रात को किस प्रकार कई दर्जन मुसलमानों को मेरठ के हाशिमपुरा बस्ती से उठा कर मारा और लाशों को नहर में फेंक दिया. राय उस समय गाज़ियाबाद के पुलिस कप्तान थे. 160 सफों में फैली इस दर्दनाक कथा में राज्य के चरित्र और लोगों की स्थिति, विशेषत: अल्पसंख्यक समुदाय, का जीवंत व प्रामाणिक चित्रण किया गया है. वे लिखते हैं, '...भारतीय राज्य और अल्पसंख्यकों के रिश्ते, पुलिस का गैर पेशवराना रवैया और घिसट-घिसट कर चलने वाली उबाऊ न्यायिक प्रणाली जैसे मुद्दे जुड़े हुए हैं,' पुलिस के चरित्र और राज्य हिंसा को समझने के लिए इस पुस्तक को एक प्रामाणिक दस्तावेज़ माना जा सकता है. दरअसल, आधुनिक भारत के निर्माताओं ने लोकतंत्र को सिर्फ मतपेटी तक ही सीमित रखा और मतदाताओं पर अपना ध्यान केंद्रित किया. लोकतंत्र को स्वतंत्र भारत के नागरिकों की जीवन शैली का अभिन्न हिस्सा नहीं बनाया. मतदाता धार्मिक खानों में ही विभाजित रहे और तदनुसार उनके प्रति तुष्टिकरण का बरताव किया जाता रहा; राजनीतिक दलों के एक पक्ष ने मतों के लिए अल्पसंख्यकों को तुष्ट किया जबकि दूसरे पक्ष ने बहुसंख्यकों की तुष्टि की. साम्प्रदायिकता के प्रति भी 'सेलेक्टिव एप्रोच' से काम लिया गया. जनता हिंदुस्तानी नागरिक बने, न कि हिंदू-मुसलमान-ईसाई, दोनों पक्ष ऐसा करने से कतराते रहे क्योंकि सत्ता प्राप्ति उनकी पहली प्राथमिकता थी. जनता में सच्चे भारतीय और नागरिक का बोध पैदा हो, इसके लिए राज्य ने योजनाबद्ध ढंग से कोई अभियान चलाया हो, ऐसा दिखाई नहीं देता. फलस्वरूप, आज संविधान की आत्मा विभिन्न संकटों से घिरी हुई दिखाई दे रही है. इसके बहुलतावादी चरित्र को एकलतावादी ललकार रहे हैं.

हमें इस अवधारणा को स्वीकार या आत्मसात कर लेना चाहिए कि आधुनिक विश्व में कोई भी राष्ट्र राज्य एकरंगीय या एक नस्ली या एक धर्मी– एक जातीय नहीं हो सकता. दुनिया अब 'विश्व ग्राम' ग्लोबल विलेज का रूप लेती जा रही है; करीब दो करोड़ लोगों का भारतीय डायस्पोरा विभिन्न देशों में है; ब्रिटेन, कनाडा जैसे देशों में कैबिनेट मंत्री भी हैं. अत: लोग एकरूपी न होकर बहुरूपी और बहुस्तरीय होते हैं. उन्हें एकरूपी या एक सांचें में ही ढालने से जहां विकास व गतिशीलता अवरुद्ध होते हैं वहीं ज्ञान व अनुसंधान पर भी विराम लग जाता है. भारतीय राष्ट्र राज्य की अहम ज़िम्मेदारी यह है कि वह ऐसा परिवेश रचे जिसमें 'हम लोग' शुद्ध भारतीय नागरिक बनें, न कि बहुसंख्यक या अल्पसंख्यक. वक्त का तकाज़ा है कि हमारे वर्तमान व भावी शासक इस 'राजधर्म' का पालन करें! ❑

आवरण-कथा

आंबेडकर को याद करें हम

● प्रियदर्शन

'हम भारत के लोग'- यहां से शुरू होने वाली भारतीय संविधान की प्रस्तावना में यह 'हम' कौन है? यह सवाल कुछ वैसा ही है जैसा रघुवीर सहाय ने अपनी मशहूर कविता में पूछा था– 'जन गण मन में भला कौन यह भारत भाग्य विधाता है / फटा सुथन्ना पहने जिसके गुण हरचरना गाता है.' लेकिन रघुवीर सहाय भारतीय राष्ट्र की जिस विडम्बना की ओर इशारा कर रहे थे, वह आज कुछ और समस्याग्रस्त हो गयी है. भारतीय राज्य नागरिकता की नयी कसौटियां मांग रहा है, नागरिकों से उनकी पहचान मांग रहा है और नागरिक इस सवाल पर बंटे हुए हैं कि वे सरकार के इस रुख पर कैसी प्रतिक्रिया दें.

दरअसल यह भारतीय लोकतंत्र की परीक्षा की घड़ी है. अच्छी बात यह है कि जिन्हें यह इम्तिहान देना है, वह आज़ादी की लड़ाई की विरासत की ओर देख रहे हैं. उनके सामने जो तस्वीरें हैं उनमें महात्मा गांधी और बाबा साहेब आंबेडकर की सबसे प्रमुख हैं. हालांकि इस अवसर पर यह खयाल आना अस्वाभाविक नहीं है कि अपने जीवन काल में आंबेडकर और गांधी कई बार एक-दूसरे से असंतुष्ट रहे, एक-दूसरे के खंडन में भी जुटे रहे. दलितों के लिए अलग निर्वाचन मंडल बनाने के ब्रिटिश सरकार के फ़ैसले के खिलाफ़ गांधी जी ने जो ऐतिहासिक अनशन किया था, वह आंबेडकर को दलितों के प्रति अन्याय लगता रहा. इस सिलसिले में गांधी जी के सचिव रहे प्यारेलाल ने 'एपिक फ़ास्ट' नाम की जो किताब लिखी है,

उसमें वे बताते हैं कि आंबेडकर दबाव में जब गांधी से मिलने गये तो उन्होंने पहला वाक्य यही कहा कि आप हमारे साथ अन्याय कर रहे हैं. गांधी का अनशन तुड़वाने के राष्ट्रीय दबाव में आंबेडकर ने उनके साथ पुणे में समझौता तो कर लिया, लेकिन इसकी गांठ उनके आपसी सम्बंधों पर शायद हमेशा पड़ी रही. बल्कि आने वाले दिनों में खास कर जिस तरह दलित राजनीति में गांधी विरोध का एक तत्व देखने को मिला और कुछ हद तक अब भी जारी है– वह इस लिहाज से मायूस करने वाला है कि जिस समय हमें गांधी के तत्व और आंबेडकर के तर्क की सबसे ज़्यादा ज़रूरत है, उस समय इनके अनुयायी इन्हें एक-दूसरे के खिलाफ़ खड़ा कर रहे हैं.

यह सच है कि महात्मा गांधी अगर भारत की आत्मा हैं तो आंबेडकर को उसका मस्तिष्क होना चाहिए– आखिर यह संविधान बनाने में उनकी सबसे प्रमुख भूमिका रही है. लेकिन न आंबेडकर का जीवन आसान रहा न उनको अब अपनाना आसान है. वे इतने तार्किक हैं कि बड़ी से बड़ी भावना अगर उन्हें तर्कविरुद्ध लगे तो उस पर कुठाराघात करने से हिचकते नहीं. उन्हें जब जाति-पांति तोड़क मंडल के सालाना जलसे में अध्यक्षता के लिए बुलाया जाता है तो ऐसा वक्तव्य तैयार करते हैं जिसकी वजह से खुद को सदाशयी मानने वाले आयोजक भी पीछे हट जाते हैं. ऐसा नहीं कि आंबेडकर दुराग्रही हैं. बस वे तार्किक हैं– इतने प्रबल तार्किक कि इसी तर्क पद्धति से किसी समस्या या सवाल के मूल तक पहुंच जाते हैं. वे जाति-पांति तोड़ने वालों की सदाशयता पर संदेह नहीं करते, लेकिन तर्कपूर्वक साबित करते हैं कि जाति ने पूरे भारत को कमज़ोर किया है और यह तब खत्म होगी जब पूरा हिंदू धर्म खत्म होगा. उनके शब्द बहुत सख्त हैं. जो बीजेपी नेता आंबेडकर का नाम जपते नहीं अघाते, उन्हें शायद नहीं पता कि आंबेडकर की हिंदुत्व के बारे में क्या राय है. उन्होंने बहुत स्पष्ट ढंग से अपने इस वक्तव्य में लिखा था– 'हिंदू इस देश के बीमार लोग हैं और उनकी बीमारी दूसरे देशवासियों की सेहत और खुशहाली के लिए खतरा है.'

इस प्रश्न पर बाद में लौटते हैं कि ऐसे अतिवादी लगने वाले आंबेडकर को इस देश ने क्यों स्वीकार किया और पहले यह देखते हैं कि संविधान निर्माता के तौर पर आंबेडकर ने वह क्या किया कि आज का हिंदुस्तान भी उन्हीं के पास लौटने की ज़रूरत महसूस करता है.

दरअसल आंबेडकर ने भारत के लोगों को उनकी उस भारतीयता की गारंटी दी जो आज़ादी की लड़ाई के दौर में विकसित हुई थी. जाति-पांति में बंटे, तरह-तरह के भेदभाव और अस्पृश्यताओं के बीच जीते,

लगभग अमानवीय किस्म की जकड़नों को जीने का आधार बनाये, धर्म और लिंग के तरह-तरह के पूर्वग्रहों को जीते एक समाज को उन्होंने बिल्कुल बराबरी के आधार वाली नागरिकता प्रदान की. आज यह बहुत मामूली-सी बात लगती है लेकिन इस दौर तक पहुंचने से पहले की मुश्किलों को याद करें तो पायेंगे कि दरअसल यह एक बहुत क्रांतिकारी विचार था जो सदियों की भारतीय परम्परा को आधुनिकता और बराबरी के महास्वप्न से जोड़ता था. यह इसलिए भी सम्भव हुआ कि आंबेडकर शायद खुद समाज के उस सिरे पर खड़े थे जिसकी पीठ पर इस असमानता का चाबुक पड़ता था. हालांकि भारतीय समाज में भेदभाव का यह अनुभव इतना प्रत्यक्ष था कि कोई भी उससे अनभिज्ञ या असंपृक्त होने का दावा नहीं कर सकता था. गांधी नेहरू या दूसरे तमाम स्वाधीनता सेनानी इतने प्रगतिशील थे कि वह नागरिकों की बराबरी को आने वाले जनतंत्र का आधार बनाते, लेकिन जैसा कि आंबेडकर और गांधी के संवाद से स्पष्ट है, जाति-पांति से उपजे भेदभाव की चुभन गांधी में वैसी नहीं थी जैसी आंबेडकर में थी. बल्कि गांधी के भीतर चातुर्वर्ण्य को लेकर एक आदर्श सी कल्पना थी जिसे आंबेडकर उनका बचपना भी बताते हैं और उनकी राजनीतिक मजबूरी भी. जाहिर है, आंबेडकर न होते तो सामाजिक बराबरी और न्याय की प्रतिज्ञा इतनी प्रबल न होती जितनी हमारे संविधान में दिखाई पड़ती है.

यहां एक और महत्वपूर्ण अंतर की ओर ध्यान देना आवश्यक है. आंबेडकर इस बात से निराश दिखाई देते हैं कि कांग्रेस सामाजिक परिवर्तन के अपने लक्ष्य को छोड़कर धीरे-धीरे राजनीतिक परिवर्तन को अपना मुख्य लक्ष्य बना रही है. उनका स्पष्ट मानना था कि भारत को राजनीतिक आज़ादी से पहले एक तरह की सामाजिक आज़ादी चाहिए. अगर यह आज़ादी हासिल नहीं हुई तो राजनीतिक आज़ादी का कोई मतलब नहीं रह जायेगा. इसी तर्क से वह कई मुद्दों पर अंग्रेज़ों के साथ खड़े दिखाई पड़ते थे.

दूसरी ओर गांधी मानते थे कि भारत की सामाजिक बुराइयां उसकी राजनीतिक गुलामी की देन हैं. यह राजनीतिक गुलामी खत्म हो जायेगी तो देर-सबेर सामाजिक बुराइयां भी दूर हो जाएंगी.

कहने की ज़रूरत नहीं कि आज़ादी की करीब तीन चौथाई सदी बीत जाने के

भारत को राजनीतिक आज़ादी से पहले एक तरह की सामाजिक आज़ादी चाहिए. अगर यह आज़ादी हासिल नहीं हुई तो राजनीतिक आज़ादी का कोई मतलब नहीं रह जायेगा.

बाद आंबेडकर ज़्यादा सही प्रतीत होते हैं. राजनीतिक तौर पर आज़ाद भारत कई तरह की सामाजिक बुराइयों का गुलाम है. पुरानी अस्पृश्यता नफरत की नयी शक्लों में विद्यमान है और हमारा पूरा लोकतंत्र एक बंटे हुए समाज की कटी-छंटी महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने का ज़रिया रह गया है.

बल्कि इस स्थिति का सबसे ज़्यादा लाभ उन लोगों ने उठाया है जो शुरू से भारत को एक धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र के रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं थे. भारत को एक हिंदू राष्ट्र में बदलने का सपना देखने वाला संघ परिवार और उसकी राजनीतिक इकाई बीजेपी अब विराट बहुमत के साथ सत्ता में है. हालांकि उसने अब अपने मुहावरे बदल दिये हैं– वह हिंदी-हिंदू-हिंदुस्तान का पुराना नारा छोड़ चुकी है, लेकिन बहुसंख्यकवादी राजनीति के आक्रामक उभार के साथ अपने पुराने एजेंडे को ही अमल में लाने में लगी है. पिछले दो साल में बहुसंख्यकवादी लक्ष्यों को लेकर किये जाने वाले एकपक्षीय राजनीतिक फैसलों की जैसे बाढ़ आयी हुई है और खुद को प्रगतिशील और लोकतांत्रिक मानने वाली ताकतें एक के एक बाद इनके प्रहारों के आगे बेबस प्रतीत होती हैं. उसकी उपस्थिति का दबाव दूसरी सारी लोकतांत्रिक संस्थाओं पर भी है. उसके फ़ैसलों पर सवाल उठाना अदालतों के लिए मुश्किल होता जा रहा है.

अदालतें लगभग हर मामले में या तो सरकार को लेकर बहुत नरमी भरा रुख अख्तियार करती नज़र आ रही हैं या फिर सुनवाई आगे बढ़ा रही हैं. इसके अलावा नागरिकों पर एनआरसी की तलवार लटकी ही हुई है. नागरिकता संशोधन कानून के खिलाफ़ देश का एक बड़ा हिस्सा आंदोलनरत है. लेकिन सरकार इस पूरे आंदोलन को खारिज करने में लगी हुई है. उसके मुताबिक यह आंदोलन विपक्ष के बहकावे का नतीजा है. वह इससे सख्ती से निबटने की बात कर रही है.

दरअसल इसी मोड़ पर देश को आंबेडकर और गांधी की नये सिरे से ज़रूरत है. खास बात यह है कि इस मौके पर देश उनको याद भी कर रहा है. तमाम छोटे-बड़े शहरों और कस्बों में नागरिकता संशोधन कानून के खिलाफ़ जो आंदोलन चल रहे हैं, वे अपने लिए आज़ादी की लड़ाई के दौर से ही प्रतीक चुन रहे हैं, उसी दौर में विकसित साझा संस्कृति को अपनी विरासत बना रहे हैं. दरअसल ये सारे आंदोलन लोकतंत्र के नये, अनूठे और अहिंसक प्रयोग हैं जिनमें वह आबादी अपनी भारतीयता का पुनराविष्कार कर रही है जिसे या तो इससे वंचित करने की कोशिश की जाती रही या इससे दूर

बताया जाता रहा. इन आंदोलनों में बड़े पैमाने पर अल्पसंख्यकों की भागीदारी है. इस आधार पर इन्हें मुसलमानों का आंदोलन साबित करने की कोशिश की जा रही है. लेकिन दिलचस्प यह है कि मुसलमान अपनी भारतीयता को उन सभी प्रतीकों से व्यक्त कर रहे हैं जिन्हें खुद को राष्ट्रवादी मानने वाली जमातें इस्तेमाल कर रही हैं. यहां राष्ट्रगान हो रहा है, तिरंगा लहराया जा रहा है, वंदे मातरम गाया जा रहा है, भारत माता की जय बोला जा रहा है, हवन और नमाज़ साथ-साथ हो रहे हैं.

लेकिन इस पूरी सदाशयता का मोल क्या है? सरकार इसे देखने को तैयार नहीं है. बहुसंख्यकवादी रुझानों से अतिक्रांत मानसिकता इस पर संदेह कर रही है. इसमें देशद्रोही तत्व खोजे जा रहे हैं. दक्षिणपंथ की राजनीति से प्रेरित और भटके हुए लड़के यहां आकर गोली चला रहे हैं. दिल्ली में जो हिंसा हुई, उसके पीछे इन आंदोलनों का उकसावा देखा जा रहा है. यह स्थिति बताती है कि हम किस बुरी तरह एक बहुत गहरी कटुता और आपसी नफ़रत की गिरफ़्त में हैं.

इस कट्टरता और नफ़रत से हमें दो चीज़ें ही बचा सकती हैं– एक तो गांधी जैसी करुणा जिसमें आपसी भेदों को याद रखते हुए भी पारस्परिक सम्मान की मानवीय ऊष्मा हो या फिर आंबेडकर का तर्कवाद जो याद दिलाये कि हमारे भीतर की श्रेष्ठता ग्रंथि कितनी नकली और किस कदर नुकसानदेह है.

मगर सवाल फिर वही है. उपभोक्तावादी विचारविहीनता के इस दौर में जब राजनीति शुद्ध स्वार्थों से परिचालित हो रही हो तो महज गांधी या आंबेडकर का विचार कैसे बदलाव ले आयेगा? यहां आकर एक बड़े संघर्ष की ज़रूरत का अनुभव होता है. यह संघर्ष अपनी सामाजिक नियति और अवस्थिति की वजह से सबसे ज़्यादा और कारगर ढंग से आंबेडकरवादी ही कर सकते हैं. फिलहाल भारत की राजनीतिक बाड़ेबंदी में जातिवाद का अपने पक्ष में इस्तेमाल करने वाली पार्टियां दलित वोट भी बांट ले रही हैं. लेकिन दलित राजनीति चाहे जितनी बदल रही हो, न दलित समाज उतना बदल रहा है और न उसके प्रति लोगों का नज़रिया बदल रहा है. यह बदलाव तभी आयेगा जब जाति टूटेगी और जाति तभी टूटेगी जब वह होगा जो आंबेडकर चाहते थे– यानी धर्म का शिकंजा टूटेगा.

बहरहाल, हम भारत के लोग अगर वाकई समता, स्वतंत्रता और न्याय में भरोसा करते हैं तो हमें इससे बड़ी लड़ाई की ज़मीन तैयार करनी होगी. अभी वह बहुत दूर का सपना दिख रहा है. लेकिन उस सपने की सीढ़ी जिन तत्वों से बनेगी, उसमें आंबेडकर तो होंगे ही होंगे. ❑

भविष्य हमें देख रहा है

● जवाहरलाल नेहरू

अर्से से हम सबके दिमागों में स्वतंत्र भारत को लेकर कई तरह के विचार घुमड़ते रहे हैं. लेकिन, अब, जबकि हम असली काम की शुरूआत कर रहे हैं, मुझे उम्मीद है कि आप सब इस बात में मुझसे सहमत होंगे कि हम स्वयं को, देश की जनता को, और सारी दुनिया को आज़ाद मुल्क के हमारे नक्शे की सही-सही जानकारी दें. जो प्रस्ताव मैं आपके सामने रख रहा हूं, वह हमारे उद्देश्यों, हमारी योजना के नक्शे और उस राह की जानकारी देने वाला होगा, जिस पर हमें चलना है.

आप सब जानते हैं कि यह वह संविधान सभा नहीं है, जो हममें से बहुत लोग चाहते थे. यह कुछ विशेष परिस्थितियों में अस्तित्व में आयी है, और इसमें ब्रिटिश सरकार का भी हाथ रहा है. उन्होंने इसके साथ कुछ शर्तें जोड़ी हैं. हमने एक मसौदे को स्वीकार किया है जिसे इस सभा की बुनियाद कहा जा सकता है. पर हमें उस स्रोत को नहीं भूलना है जिससे इस एसेंबली को ताकत मिलती है. सरकारें 'स्टेट पेपर्स' से नहीं बनती हैं, वस्तुतः सरकारें जनता की इच्छाओं की अभिव्यक्ति होती हैं। हम आज यहां इसलिए हैं कि जनता की ताकत हमारे साथ है और हम वही सब करेंगे जो जनता चाहेगी– न कि कोई व्यक्ति या समूह. इसलिए हमें जनता के दिलों में पल रही भावनाओं की हमेशा कद्र करनी होगी, और कोशिश करनी होगी कि हम जन-भावनाओं के अनुरूप काम कर सकें...

जो प्रस्ताव मैं आपके सामने रख रहा हूं, वह एक प्रतिज्ञा के रूप में है. इसे बड़े सोच-विचार के बाद तैयार किया गया है और कोशिश रही है कि यह विवादों से बचा रहे. इतने बड़े और महान मुल्क में विवादास्पद मुद्दे होना स्वाभाविक है, पर हमने जहां तक हो सके विवादों से बचने की कोशिश की है. इस प्रस्ताव में वह बुनियादी बातें हैं जिन्हें जनता स्वीकार कर चुकी है. मुझे नहीं लगता कि इस प्रस्ताव में कुछ ऐसा है जो उन सीमाओं का उल्लंघन करता हो जो ब्रिटिश कैबिनेट ने तय की हैं, इसमें ऐसा कुछ नहीं है जो किसी भारतीय को, चाहे वह किसी भी दल या समुदाय का हो, अस्वीकार्य होगा.

दुर्भाग्य से, हमारे देश में बहुत-से मतभेद हैं, पर बहुत कम लोगों को छोड़कर शायद ही किसी को उन बुनियादी बातों से ऐतराज होगा जो इस प्रस्ताव में कहा गया है कि हम एक सर्वसत्ता सम्पन्न भारतीय गणराज्य के निर्माण की प्रतिज्ञा करते हैं. अबतक हम लोग 'गणराज्य' की बात नहीं करते थे, पर आप अच्छी तरह समझ जायेंगे कि भारत गणराज्य के अलावा और कुछ नहीं हो सकता.

इस अवसर पर, जबकि भारतीय रियासतों के प्रतिनिधि यहां नहीं हैं, मैं यह बात साफ कर देना चाहता हूं कि वह प्रस्ताव रियासतों को कैसे प्रभावित करेगा. यह सुझाव दिया जा सकता है कि चूंकि सदन के कुछ वर्ग उपस्थित नहीं हैं, इसलिए इस प्रस्ताव को स्थगित कर दिया जाये. पर मुझे लगता है कि यह सुझाव समय की भावनाओं के अनुकूल नहीं होगा. अगर हम उस पहले उद्देश्य को स्वीकार नहीं करते जिसे हम अपने, मुल्क के या दुनिया के सामने रखने जा रहे हैं, तो हमारी सारी कार्रवाई अर्थहीन और निष्प्राण हो जायेगी और जनता को हमारे काम में कोई रुचि नहीं रहेगी. रियासतों के बारे में हमारा रुख अच्छी तरह से समझ लिया जाना चाहिए. हम यह ज़रूर चाहते हैं कि भावी भारतीय संघ के लिए होने वाले विचार में भारत के सभी वर्ग स्वेच्छा से भाग लें, पर यह उनपर निर्भर करता है कि उनकी भूमिका क्या हो और सरकार कैसी बने.

प्रस्ताव में यह सब विस्तार से नहीं रखा गया है. इसमें सिर्फ बुनियादी बातें हैं. इसमें रियासतों की इच्छा के बगैर उन पर कुछ लादा नहीं गया है. विचार करने का मुद्दा यह है कि वे कैसे हमारे साथ जुड़ें, और प्रशासन कैसा हो. मैं इस बारे में अपनी निजी राय नहीं रखना चाहता. फिर भी, मैं इतना ज़रूर कहूंगा कि किसी भी राज्य का ऐसा प्रशासन नहीं होगा जो हमारे बुनियादी सिद्धांतों के खिलाफ़ जाता हो. न ही किसी हिस्से को किसी और से कम आज़ादी मिलेगी. प्रस्ताव का इससे भी कोई लेना-देना नहीं है कि रियासतों में कैसी सरकार होगी और वर्तमान राजे और नवाब रहेंगे या नहीं. हो सकता है जनता अपना राजा चाहे. यह फैसला जनता को करना है. हमारे गणतंत्र में सारा भारत शामिल होगा.

मैं चाहता हूं कि यह सदन इस प्रस्ताव पर महज़ कानूनी शब्दों की संकुचित भावना की दृष्टि से विचार न करे, बल्कि प्रस्ताव के पीछे की भावना के अनुरूप इसे देखे-समझे.

मुझे आशा है सदन यह विशेष प्रस्ताव पारित करेगा. यह अपने आप से और इस महान देश में रहने वाले हमारे करोड़ों भाई-बहनों से हमारी

आपसी समझ है. यदि यह पारित होता है तो यह एक प्रतिज्ञा होगी, जिसे हमें पूरा करना है.

मैं प्रस्तावित करता हूं–

1) यह संविधान सभा दृढ़ निश्चय के साथ भारत को एक स्वतंत्र प्रभुत्व सम्पन्न गणराज्य घोषित करती है और

2) ब्रिटिश भारत और स्वतंत्र प्रभुत्व सम्पन्न भारत में शामिल होने के इच्छुक राज्यों के साथ यह उन सबका एक संघ होगा.

3) यहां सब राज्यों को स्वायत्त इकाई के अधिकार होंगे. कुछ अधिकार केंद्र के पास रहेंगे.

4) सर्व-प्रभुत्व सम्पन्न भारत को सब अधिकार जनता से प्राप्त होंगे.

5) भारत के सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय मिलेगा, कानून के समक्ष सभी नागरिक समान होंगे; सभी को विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, आस्था, पूजा, रोज़गार की स्वतंत्रता होगी.

6) अल्पसंख्यकों, पिछड़े और आदिवासियों, शोषितों को पर्याप्त संरक्षण मिलेगा.

7) सभ्य राष्ट्र के न्याय और कानून के अनुसार गणतंत्र के भौगोलिक और प्रभुसत्तात्मक अधिकारों की रक्षा होगी.

8) यह प्राचीन धरती विश्व में अपना न्यायोचित सम्मान प्राप्त करेगी और विश्व-शांति तथा मनुष्यता के कल्याण में अपना योगदान देगी.

यह संविधान-सभा का पांचवां दिन है और अबतक हमने ज़रूरी कार्यों को पूरा किया है. अब हमें जो काम करना है उसका क्षेत्र स्पष्ट है. हमें ज़मीन तैयार करनी है. बहुत काम करना बाकी है. हमें एक राष्ट्र के सपनों और आकांक्षाओं को शब्द देने हैं. वह सब होगा, पर उससे पहले हमें स्वयं अपने-आप को, उन सबको जो इस सभा की ओर आशाओं भरी दृष्टि से देख रहे हैं, और सारी दुनिया को कुछ संकेत देने ज़रूरी हैं कि हम क्या कर सकते हैं, हम क्या प्राप्त करना चाहते हैं, और हम किस दिशा में बढ़ रहे हैं. इसी उद्देश्य से मैंने यह प्रस्ताव सदन के सामने रखा है. यह प्रस्ताव है, पर यह प्रस्ताव से कुछ अधिक भी है. यह एक घोषणा है. यह दृढ़ निश्चय है. यह एक शपथ है, संकल्प है, और मुझे आशा है कि यह हम सबके लिए एक निष्ठा का सवाल भी है. मैं चाहता हूं कि यह सदन इस प्रस्ताव पर महज़ कानूनी शब्दों की संकुचित भावना की दृष्टि से विचार न करे, बल्कि प्रस्ताव के पीछे की भावना के अनुरूप इसे देखे-समझे. अक्सर शब्द जादुई चीज़ होते हैं, पर कभी-कभी शब्दों का जादू भी मानवीय भावनाओं और राष्ट्र के जज़्बे को व्यक्त नहीं कर पाता. इसलिए, मैं नहीं कह सकता कि यह प्रस्ताव भारत की जनता के आज के भावों की अभिव्यक्ति करता ही है. यह कमज़ोर आवाज़ में ही सही, दुनिया को

यह बताता है कि हमने अब तक क्या सोचा था, क्या सपने देखे हैं और हम अब इस सदन में क्या करने-पाने की आशा कर रहे हैं. मुझे विश्वास है सदन इसी भावना से इस पर विचार करेगा और इसे पारित करेगा. मैं पूरे आदर के साथ यह सुझाव देना चाहता हूं कि जब इस प्रस्ताव को पारित करें, तब इस तरह एक बार फिर थपथ लें...

मैं जब यहां खड़ा हूं तो बहुत सारी चीज़ें मेरे आस-पास मुझे घेर कर खड़ी हैं. हम एक युग के आखीर में खड़े हैं और जल्दी ही हम एक नये युग में दाखिल होंगे. आज मेरा ध्यान बहुत पीछे भारत के महान अतीत की ओर जा रहा है. पांच हज़ार साल का इतिहास है हमारा. इतिहास की प्रभात-बेला थी वह, जिसे मनुष्य जाति के इतिहास का प्रभात कहा जा सकता है. वह सारा अतीत आज मुझे घेरे हुए है. यह मुझे आनंदित भी करता है और मुझे कुछ दबाव में भी डाल रहा है. क्या मैं उस अतीत के योग्य हूं? और जब मैं भविष्य के बारे में सोचता हूं, महान भविष्य के बारे में, तो आज वर्तमान, शानदार अतीत और उससे भी अधिक महान भविष्य की तलवार की धार पर खड़े हुए मैं कुछ कांप-सा जाता हूं. जो यह इतना बड़ा काम हमारे सामने है, वह मुझे अभिभूत भी करता है. हम यहां भारत के इतिहास के एक अजीब-से क्षण में खड़े हैं. पता नहीं, क्यों, पर मुझे लग रहा है कि प्राचीन से अर्वाचीन में आने वाले इस परिवर्तन के क्षण में कुछ जादू है. कुछ वैसा ही जादू जो रात के जाने और दिन के आने के समय होता है. भले ही दिन कुछ बादलों भरा हो पर है तो दिन ही. जब बादल छंटते हैं तो हम सूरज देख सकते हैं. इस सबके चलते मैं सदन को सम्बोधित करने में कुछ मुश्किल भी महसूस कर रहा हूं. अपने सारे विचार आपके सामने नहीं रख पा रहा हूं. मुझे यह भी लग रहा है कि हज़ारों साल के इस सफर में बहुत से महान लोग आये और चले गये, मुझे वे साथी भी याद आ रहे हैं जिन्होंने भारत की आज़ादी के लिए बलिदान दिये. और अब हम इस गुज़रते युग के एक किनारे पर खड़े हैं, नये युग में प्रवेश करने की कोशिश कर रहे हैं. मुझे विश्वास है, सदन इस अवसर की गम्भीरता को अनुभव करेगा और इस प्रस्ताव को उसी भावना से लेगा.

आज हम जो यहां कर रहे हैं, हमारा अतीत उसका गवाह है. हालांकि भविष्य अभी जन्मा नहीं है, पर कभी-कभी भविष्य भी हमें देखता है. इसलिए मैं इस सदन से आग्रह करता हूं कि वह हमारे अतीत के परिदृश्य में, वर्तमान के कोलाहल में और महान अजन्मे भविष्य के संदर्भ में इस प्रस्ताव पर विचार करे.

(13 दिसम्बर 1946 को संविधान सभा में दिये गये भाषण का भावानुवाद)

प्रजातंत्र की शर्तें

● बी.आर. आंबेडकर

आज की शाम मैं आपके सामने जिस विषय पर बोलने वाला हूं उसे अपने शब्दों में बताना हो तो इस प्रकार कहा जा सकता है. 'प्रजातंत्र में सफल कामकाज की कुछ पूर्व सुनिश्चित शर्तें.' मुख्य विषय पर आने से पहले मैं इस विषय की भूमिका आपको बताना चाहता हूं. पहला प्राथमिक मुद्दा यह है कि प्रजातंत्र के प्रकार हमेशा बदलते रहे हैं. ग्रीक लोगों ने अथेनीयन प्रजातंत्र के बारे में बताया. लेकिन हर कोई यह जानता है कि मक्खन और पत्थर के बीच जितनी समानता है उतनी समानता अथेनीयन प्रजातंत्र और आधुनिक प्रजातंत्र में है. अथेनीयन प्रजातंत्र में 50 प्रतिशत लोग गुलाम थे और केवल 50 प्रतिशत लोग ही आज़ाद थे. गुलाम लोगों का शासन में कोई स्थान नहीं था. इसीलिए हमारा प्रजातंत्र अथेनीयन प्रजातंत्र से निश्चित रूप से अलग है. एक ही देश में भी हमेशा के लिए प्रजातंत्र एक-सा नहीं होता. इंग्लैंड के इतिहास पर नज़र डालिए. सन् 1688 के विद्रोह से पहले इंग्लैंड में जिस प्रकार का प्रजातंत्र था, उसी प्रकार का प्रजातंत्र विद्रोह के पश्चात् रहा ऐसा कोई नहीं कह सकता.

तीसरी बात की ओर मैं आपका ध्यान दिलाना चाहता हूं और वह यह कि न सिर्फ प्रजातंत्र का स्वरूप बदलता है बल्कि प्रजातंत्र के उद्देश्यों में भी बदलाव आते रहते हैं. प्राचीन अंग्रेज़ी प्रजातंत्र का उदाहरण लेते हैं. उस प्रजातंत्र का क्या उद्देश्य था? राजा पर अंकुश रखना और साथ ही कानून की भाषा में जिसे परमाधिकार कहा जाता है उस परमाधिकार पर अमल करने से राजा को रोकना यही तब प्रजातंत्र का उद्देश्य था. तब राजा की यह तक कहने की हिम्मत हुई थी कि– 'कानून बनाने वाली एक संस्था के रूप में भले संसद का अस्तित्व होगा, लेकिन एक राजा होने के नाते मुझे कानून बनाने का परमाधिकार प्राप्त है और मेरा कानून ही सर्वश्रेष्ठ कानून है.' राजा की इस स्वयंसत्ता पद्धति के कारण ही प्रजातंत्र अस्तित्व में आ सका.

अब प्रजातंत्र के उद्देश्य क्या हैं? राजा की स्वयंसत्ता पद्धति पर अधिक से अधिक अंकुश लगाये रखना लोकतंत्र का उद्देश्य न होकर आम जनता का, सामान्यजनों का कल्याण करना ही उसका मुख्य उद्देश्य है. प्रजातंत्र के उद्देश्यों में जो प्रमुख बदलाव आया है वह यही है. हमारी समझ के

अनुसार प्रजातंत्र के मायने क्या हैं? आपको इस बात का अहसास है कि राजनीतिशास्त्र के लेखकों ने, विचारकों ने और समाजविज्ञानियों जैसे कई लोगों ने प्रजातंत्र की परिभाषाएं दी हैं. मैं केवल दो ही परिभाषाओं का स्पष्टीकरण यहां करने वाला हूं. ब्रिटिश संविधान पर वॉल्टर बेगहॉट द्वारा लिखित चर्चित ग्रंथ प्रजातंत्र का सही ढांचा बताने की पहली आधुनिक कोशिश है. उसमें 'विचार-विमर्श से चलने वाला शासन' इस प्रकार प्रजातंत्र की व्याख्या की गयी है.

दूसरा उदाहरण मैं अब्राहम लिंकन का दे रहा हूं. दक्षिण के राज्यों पर विजय पाने के बाद गेटि्टसबर्ग में किये अपने प्रसिद्ध भाषण में उसने प्रजातंत्र की व्याख्या की है कि, 'लोगों का, लोगों द्वारा और लोगों के लिए चलाया गया शासन है प्रजातंत्र.' मैं खुद व्यक्तिगत प्रजातंत्र की व्याख्या थोड़े अलग ढंग से करता हूं. मेरी प्रजातंत्र की परिभाषा इस प्रकार है. 'लोगों के आर्थिक और सामाजिक जीवन में बिना खून-खराबे के क्रांतिकारी बदलाव लाने वाली शासन-व्यवस्था को प्रजातंत्र कहते हैं.' लोगों के सामाजिक, आर्थिक जीवन में मौलिक बदलाव लाने के लिए प्रजातंत्र अगर उसे चलाने वाले लोगों के काम आ रहा हो और उसके द्वारा लाये जाने वाले बदलाव अगर लोग बिना किसी खून-खराबे के स्वीकारने के लिए तैयार हों तो मैं मानता हूं कि वहां प्रजातंत्र है. प्रजातंत्र की यह सच्ची कसौटी है. हो सकता है यह काफी कठिन कसौटी हो, लेकिन आप जब किसी बात का मूल्यांकन करते हैं तब उसे कठिन से कठिन कसौटी पर कस कर आजमाते हैं.

मेरी राय में प्रजातंत्र को सफलता से

भारत का संविधान

उद्देशिका

हम, भारत के लोग, भारत को एक **संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न, समाजवादी, पंथ-निरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक गणराज्य** बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को:

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक **न्याय,**

विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म
और उपासना की **स्वतंत्रता,**

प्रतिष्ठा और अवसर की **समता**
प्राप्त कराने के लिए,

तथा उन **सब में** व्यक्ति की गरिमा और
राष्ट्र की एकता और अखंडता
सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए

दृढ़संकल्प होकर **अपनी इस संविधान सभा में** आज तारीख 26 नवंबर, 1949 ई. (मिति मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, संवत् दो हज़ार छह विक्रमी) को **एतद्‌द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।**

लागू होने की पहली शर्त यह है कि समाज में भयानक विषमता नहीं होनी चाहिए. शोषित वर्ग नहीं होना चाहिए. दमित वर्ग नहीं होना चाहिए जैसे भारत देश की समाज व्यवस्था में यह बर्बरता का रूप धारण कर चुकी है. एक के पास विशेषाधिकार और दूसरा वर्ग केवल कोल्हू का बैल, इस प्रकार के वर्ग समाज में नहीं होने चाहिए. समाज की इस व्यवस्था में, पद्धति में और विभाजन में खून से सनी क्रांति के बीज होते हैं और शायद इस रोग को नष्ट करना प्रजातंत्र के लिए असम्भव होता है. गेट्टिसबर्ग के अपने भाषण में अब्राहम लिंकन ने कहा था कि, 'ढहा घर फिर खड़ा नहीं हो सकता.' इसका अर्थ लोग स्पष्ट तरीके से समझ नहीं पाये हैं. स्पष्ट है कि उसने यह दक्षिण और उत्तर के राज्यों के संघर्ष के संदर्भ में कहा है. उसने कहा है, 'दक्षिणी राज्यों में से आप और उत्तर के राज्यों में से हम इस प्रकार के विभाजनों में अगर विभाजित होकर रहेंगे तो विदेशी आक्रमणों का हम संगठित होकर सामना नहीं कर पायेंगे.' उसने जब 'ढहा घर फिर खड़ा नहीं हो सकता,' कहा था तब उसके मायने उसकी नजर में पहले बताया अर्थ ही था, लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि उसकी संज्ञा अथवा उसके वाक्य से इससे गहरा अर्थ प्रकट होता है. मेरी समझ में उसका मतलब आता है कि प्रजातंत्र के सफल होने की राह का सबसे बड़ा रोड़ा समाज के विभिन्न वर्गों के बीच पैदा हुई गहरी खाई ही है. क्योंकि, प्रजातंत्र में होता क्या है? प्रजातंत्र में कुचले लोगों को, शोषितों को और मानवी अधिकारों से वंचितों को और जो बोझ ढोने वाले बैल की ज़िंदगी जी रहे हैं उनके लिए विशेषाधिकार प्राप्त लोगों के समान मतदान का अधिकार प्राप्त होता है. विशेषाधिकार प्राप्त लोग, उन लोगों से कम होते हैं जिनके पास विशेषाधिकार नहीं होते. प्रजातंत्र में बहुसंख्यकों को कानून का निर्णायक माना जाने के कारण अल्पसंख्यक विशेषाधिकारी लोग अगर अपने खास अधिकारों का स्वेच्छा से और राजी-खुशी त्याग नहीं करते तो विशेषाधिकारी लोग और आम जनता के बीच पैदा होने वाली खाई के कारण प्रजातंत्र का खत्मा होगा और उसी में से कुछ और अलग पैदा होगा जो निहायत अलग किस्म का होगा.

दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में प्रचलित प्रजातंत्र व्यवस्था का अगर आप अध्ययन करेंगे तो आपको पता चलेगा कि सामाजिक विषमता ही प्रजातंत्र के विनाश के कारणों में से एक प्रमुख है.

प्रजातंत्र के सफल कामकाज के लिए आवश्यक दूसरी बात है विपक्ष का अस्तित्व. मुझे फिलहाल ऐसा लगता है कि पक्ष पद्धति के विरोध में होने वाले सभी, और इस संदर्भ में जो विरोधी पक्ष के विरोध में हैं ऐसे सभी लोग प्रजातंत्र की

संकल्पना को लेकर गलतफहमी के शिकार हैं. इसलिए प्रजातंत्र यानी क्या? मैं उसकी व्याख्या नहीं करता. मैं प्रजातंत्र के कार्य के बारे में सवाल पूछ रहा हूं. मुझे लगता है कि प्रजातंत्र के मायने हैं, ना कहने की शक्ति. विरासत के अधिकार या स्वयंसत्ता से प्राप्त अधिकारों का प्रतिरोध यानी प्रजातंत्र. देश पर जिनकी सत्ता है उनके अधिकारों के बारे में कभी अस्वीकार करने का प्रयोग करना प्रजातंत्र है. स्वयंसत्ता शासन-व्यवस्था में अस्वीकार या नकारने का अधिकार नहीं होता. एक बार राजा की नियुक्ति होने के बाद आनुवंशिकता के या दैवी अधिकार के आधार पर वह शासन करता है. हर पांच साल के बाद जनता के सामने जाकर उसे यह सवाल पूछने की ज़रूरत नहीं पड़ती– 'क्या आपको लगता है कि मैंने पिछले पांच सालों में अच्छा काम किया है? और अगर ऐसा लगता है तो क्या आप मुझे फिर से नियुक्त करेंगे?' राजा की सत्ता को चुनौती देने का अधिकार किसी को नहीं होता. लेकिन प्रजातंत्र में जो सत्ता में होते हैं उन्हें हर पांच साल के बाद जनता के सामने जाकर जनता से पूछना पड़ता है कि क्या जनता की राय में वे, उनके हित की सोचने के लिए, उनकी रक्षा करने के लिए, उनके नियत जीवन में बदलाव लाने के लिए सत्ता और अधिकार पाने के लिए योग्य हैं? इसी को मैं नकारने का अधिकार कहता हूं. सत्ताधारी पांच सालों के अंत में जनता के सामने जाएं और दरमियान के समय में उनसे सवाल पूछने वाला कोई न हो ऐसे पंचवर्षीय नकारने के अधिकार से प्रजातंत्र संतुष्ट नहीं होता. लोगों के सत्ता को पंचवर्षीय दीर्घकालीन नकारने के अधिकार के प्रति ही सरकार जवाबदेह नहीं होती तो तत्काल नकारने की शक्ति की संसद में बहुत ज़रूरत होती है. इसीलिए शासन को वहीं और तत्काल चुनौती दे सकने वाले लोगों की प्रजातंत्र में बहुत आवश्यकता होती है. मैं जो कह रहा हूं वह अगर आपकी समझ में आ रहा हो तो आप यह सही तरीके से जान पाएंगे. राज्य करने का अधिकार लोगों की मान्यता से बंधा होता है. संसद में उसे चुनौती दी जा सकती है. इससे आप समझ जाएंगे कि विपक्ष की संकल्पना कितनी महत्वपूर्ण है.

विरोधी पक्ष प्रजातंत्र की पूर्व सुनिश्चित ज़रूरत है. शायद आप जानते हों कि इंग्लैंड में विरोधी पक्ष न केवल मान्यताप्राप्त है बल्कि विरोधी पक्ष के नेताओं को विरोधी पक्ष चलाने के लिए सरकार से तनख्वाह दी जाती है. इसी प्रकार कनाडा में विरोधी पार्टी (विपक्ष) के नेता को वहां के प्रधानमंत्री की तरह तनख्वाह मिलती है. क्योंकि इन दोनों देशों में प्रजांतत्र के बारे में धारणा है कि अगर सरकार गलत राह पर जा रही हो तो उसे यह बताने के लिए किसी न

किसी की आवश्यकता ज़रूर होती है और यह काम तुरंत और निरंतरता से करना पड़ता है. इसीलिए विरोधी पार्टी (विपक्ष) के नेता पर निधि खर्च करने में उन्हें आपत्ति नहीं होती.

मेरी राय में प्रजातंत्र की सफलता के लिए पूर्व सुनिश्चित एक और शर्त होती है और वह है कानून और प्रशासन के संदर्भ में सबके प्रति समानता. कानून के संदर्भ में सबके साथ समानता न बरती जाने के कई उदाहरण मिलते हैं. प्रशासन में समानता का मामला बहुत ही महत्वपूर्ण है. सत्ताधारी पार्टी द्वारा अपनी पार्टी के सदस्यों के फायदे के लिए प्रशासन से काम करवाने के कई मामलों के बारे में आपमें से कई लोगों को जानकारी हो सकती है. मान लीजिए कि लाइसेंस के बिना न किया जा सके ऐसा कोई व्यवसाय है. इस प्रकार के कानून के बारे में विवाद नहीं हो सकता. वह सब पर लागू है. उस कानून में भेदभाव नहीं हो सकता.

निर्णय लेते समय मंत्री महोदय पहले व्यक्ति को लाइसेंस देते हैं और दूसरे को देने से मना करते हैं. लाइसेंस प्राप्त करने के लिए दोनों व्यक्तियों की योग्यता समान होने के बावजूद मंत्री महोदय ऐसा करते हैं. इससे शासन का भेदभावपूर्ण व्यवहार दिखाई देता है क्योंकि यहां समान न्याय नहीं है. लाइसेंस का सवाल यानी यह अथवा वह विशेषाधिकार बहाल करना. यह निश्चित रूप से एक अदना-सा मामला है. परिणामस्वरूप इस प्रकार के भेदभाव के शिकार लोगों की संख्या भी बहुत कम होती है. लेकिन थोड़ा आगे जाकर देखें तो अगर इस प्रकार का भेदभाव शासन में बढ़ा तो क्या होगा? खयाल कीजिए कि किसी दल के सदस्य पर किसी अपराध के कारण बहुत सारे सबूतों के साथ अपराध दर्ज किया गया है और उस क्षेत्र का पक्षप्रमुख जिले के न्यायाधीश से जाकर कहे कि अपराधी उसके दल का होने के कारण उस पर मामला दर्ज करना ठीक नहीं होगा, और आगे कहता है कि मेरे कहे के मुताबिक अगर आप नहीं माने तो मामले को मंत्री महोदय के पास ले जाकर आपका यहां से तबादला कर दिया जाएगा. ऐसा अगर होने लगे तो शासन में किस तरह का अन्याय और कैसी अफरातफरी मचेगी इसके बारे में केवल सोचना भर काफी होगा. अमेरिका में ऐसे वाकये हो रहे थे. उन्हें नाश पद्धति कहा जाता था. नाश पद्धति सत्ता में आने के बाद उसके पूर्व की सरकार द्वारा नियुक्त किये गये कर्मचारियों को, क्लर्क और चपरासियों को भी काम से हटा देना. उनकी जगह नये पक्ष को सत्ता में आने के लिए जिन्होंने मदद की उन लोगों की नियुक्ति करना. इसी कारण अमेरिका जैसे देश को कई सालों तक अच्छा प्रशासन नहीं मिला. आखिर उन्हें अहसास हुआ कि ऐसी बातें

प्रजातंत्र के लिए फायदेमंद नहीं हैं. इसलिए उन्होंने नाश पद्धति को खत्म कर दिया. इंग्लैंड में प्रशासनिक क्षेत्र को शुद्ध, निष्पक्ष, और राजनीतिक नीतियों से अलग रखने के लिए राजनीतिक कार्यालयों और प्रशासनिक कार्यालयों में अलग-अलग पहचान बनायी. प्रशासकीय सेवाएं स्थायी होती हैं. सत्ता में कोई भी हो, सभी पक्षों की वह एक-सी सेवा करती है.

इस प्रकार मंत्रीमहोदय द्वारा किसी भी प्रकार की दखल के बिना वह प्रशासन चलाती रहती है. इसी प्रकार का प्रशासन जब अंग्रेज़ हमारे देश में थे तब निश्चित रूप यहां अस्तित्व में था. मैं जब भारत सरकार का सदस्य था तब की एक घटना मुझे अच्छी तरह याद है. आप शायद जानते हों कि उस समय दिल्ली की कुछ सड़कों को और मंडलों को वॉइसराय के नाम दिये गये थे. लिनलिथगो ही एक ऐसे गवर्नर जनरल थे कि जिनका नाम दिल्ली की किसी सड़क को या संस्था को नहीं दिया गया था. उनके निजी सचिव मेरे मित्र थे. तब मेरे पास सार्वजनिक निर्माण विभाग था. वह एक बार मेरे पास आकर बोला, 'डॉक्टर महोदय, लॉर्ड लिनलिथगो का नाम किसी संस्था या सार्वजनिक निर्माण को देने के बारे में क्या आप कुछ कर सकते हैं?' उन्होंने आगे कहा, 'सबका नाम किसी संस्था अथवा सार्वजनिक निर्माण को दिया गया है. केवल उन्हीं का नाम नहीं दिया जाना बहुत ही खटकने वाली बात है.' मैंने कहा, 'मैं सोचूंगा.' उस वक्त मैं जमुना नदी पर गर्मी के मौसम में दिल्ली शहर को पानी की आपूर्ति करने के लिए बांध बनाने की योजना पर सोच रहा था. यह बात मैंने अपने प्रिअर नामक यूरोपियन सचिव से कही. मैंने कहा, 'गर्वनर जनरल के सचिव द्वारा कही गयी बात के बारे में आप जानते ही हैं. इसलिए इस मामले में हम कुछ कर सकते हैं ऐसा क्या आपको लगता है?' क्या आप जानते हैं उन्होंने क्या कहा? उन्होंने कहा कि, 'महोदय, आपको यह नहीं करना चाहिए. इस देश में इस प्रकार की बातें करना असम्भव है.' कोई अधिकारी किसी मंत्री के खिलाफ बोले यह बात मेरी नज़र में असम्भव है लेकिन उस ज़माने में ऐसी बातें सम्भव थीं. क्योंकि अंग्रेज़ों की ही तरह हमने भी यह उचित निर्णय लिया था कि शासन को प्रशासन में दखल नहीं देनी चाहिए. क्योंकि शासन का कार्य प्रशासन के कामकाज में दखल देना नहीं बल्कि नीतियां तय करना होता है. यह बेहद

जनतंत्र के नाम पर बहुमत वालों द्वारा अल्पमत वालों के साथ अन्याय नहीं किया जाना चाहिए. बहुमतवाले अगर सत्ता में हों तब भी अल्पमत वालों को अपने बारे में सुरक्षितता महसूस होनी चाहिए.

बुनियादी बात है और मुझे डर लगता है क्योंकि हम उस न्याय से अब अलहदा हो गये हैं.

मेरी राय में सफल प्रजातंत्र की चौथी पूर्व सुनिश्चित शर्त है संवैधानिक नैतिकता. हमारा संविधान वैध प्रावधानों का ढांचा या कंकाल भर है. इस कंकाल का मांस होता है संवैधानिक नैतिकता. लोगों को इस खेल के नियमों का पालन करना ही चाहिए. इस संदर्भ में मुझे इस वक्त याद आ रहे एक-दो उदाहरण मैं आपको बताता हूं. जब अमेरिका के 13 उपनिवेशों ने विद्रोह किया तब वॉशिंग्टन उनके नेता थे. तत्कालीन अमेरिकी जीवन में केवल नेता कह कर वॉशिंग्टन का ज़िक्र करना उनकी योग्यता का अवमूल्यन करना था. क्योंकि अमेरिकी लोगों के लिए वॉशिंग्टन प्रत्यक्ष परमेश्वर ही थे. संविधान जब बन कर तैयार हुआ तब उन्हें अमेरिका का पहला राष्ट्रपति चुना गया. उनका कार्यकाल खत्म होने के बाद क्या हुआ? दूसरी बार चुनाव लड़ने से उन्होंने मना किया. जब पूछा गया कि ऐसा आपने क्यों किया, तो उन्होंने बताया कि मेरे मित्रो, जिस उद्देश्य के साथ हमने अपना संविधान बनाया वह शायद आप भूल गये हैं. हमें अनुवंशिक राजसत्ता नहीं चाहिए. उसी प्रकार हमें आनुवंशिक राजा अथवा तानाशाह नहीं चाहिए. इसीलिए हमने यह संविधान तैयार किया है. इंग्लिश राजा की राजनिष्ठा का त्याग और उससे इनकार कर आप अगर इस देश में आये हैं और सालोंसाल और निरंतरता से आप मेरी पूजा करने लगे तो आपके सिद्धांतों का क्या होगा? इंग्लिश राजा की जगह अगर आपने मुझे बिठा दिया तो क्या आप कह सकते हैं कि आपने इंग्लिश राजा के खिलाफ़ जो विद्रोह किया उसके प्रति आप न्याय कर रहे हैं? मुझ पर आपकी जो श्रद्धा है, मेरे प्रति आपकी जो निष्ठा है वह शायद आपको मुझे दूसरी बार चुनावों में खड़ा करने के लिए आपसे कह रही है. इसके बावजूद क्या मेरी तरह का व्यक्ति, जिसने कि इस बात की प्रतिज्ञा की है कि आनुवंशिक अधिकार अपने पास नहीं होने चाहिए, आपकी भावनाओं की बलि चढ़े यह निश्चय ही ठीक नहीं रहेगा. आखिर केवल दो बार ही उन्हें चुनावों में खड़े करने में लोगों को सफलता मिली. तीसरी बार जब लोग उनके पास गये तब उन्होंने लोगों को हड़का दिया.

मेरी राय में जनतंत्र में सबसे महत्वपूर्ण बात यह होती है कि जनतंत्र के नाम पर बहुमत वालों द्वारा अल्पमत वालों के साथ अन्याय नहीं किया जाना चाहिए. बहुमत वाले अगर सत्ता में हों तब भी अल्पमत वालों को अपने बारे में सुरक्षितता महसूस होनी चाहिए. अल्पमत वालों पर दबाव डाला जाता है या उनके खिलाफ़ दांव-पेंच लड़ाये जाते हैं ऐसा उन्हें नहीं लगना चाहिए. हाऊस ऑफ कॉमन्स में इस बात

का बहुत ज़्यादा ख्याल रखा जाता है. 1931 में रैम्से मैकडोनल्ड ने लेबर पार्टी से इस्तीफा दिया और राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की. चुनाव जब होने थे, तब लेबर पार्टी के सदस्यों की संख्या 150 के आसपास थी. लेकिन चुनावों के बाद लेबर पार्टी को केवल 50 जगहें मिलीं और प्रधानमंत्री बाल्डविन की पार्टी को 650 जगहें मिलीं. उस समय मैं इंग्लैंड में था. ऐसी तूफानी सफलता पाने वाली कंजर्वेटिव पार्टी के साथ काम करने वाली 50 सदस्यों की लेबर पार्टी में से किसी के द्वारा यह शिकायत की गयी हो ऐसी कोई घटना मेरे सुनने में नहीं आयी कि उनके भाषण की आज़ादी का विरोध हो रहा है, या किसी भी प्रकार का प्रस्ताव रखने के अधिकार से उन्हें वंचित किया जा रहा है.

एक और मुद्दे का ज़िक्र कर मैं भाषण पूरा करने जा रहा हूं. मेरी राय में समाज की नैतिकता को जागृत और क्रियाशील रखना प्रजातंत्र के लिए आवश्यक होता है. दुख की बात है कि हमारे राजनीति शास्त्र के विद्वानों द्वारा प्रजातंत्र के इस पहलू के बारे में सोचा ही नहीं गया है. 'नीतिशास्त्र राजनीति से अलग होता है. हम राजनीति सीख सकते हैं और नीतिशास्त्र के बारे में बिना कुछ सीखे भी काम चल सकता है. क्योंकि राजनीति नीतिशास्त्र के बगैर भी काम कर सकती है.' मेरी राय में यह एक आश्चर्यचकित करने वाला वाक्य है. आखिर जनतंत्र में क्या होता है, कैसे काम चलता है? प्रजातंत्र के बारे में बोलते हुए 'मुक्त शासन' का ज़िक्र होता है. हम मुक्त शासन के क्या मायने समझते हैं? समाज जीवन के भव्य नजरिये से लोगों को कानून के हस्तक्षेप के बगैर प्रगति करने के लिए मुक्त करना और अगर कानून बनाना ही हो तो कानून बनाने वाले को इतना यकीन होना चाहिए कि कानून के सफल होने के लिए समाज में ज़रूरी नैतिक वास्तविकता मौजूद है. प्रजातंत्र के इस पहलू का ज़िक्र करने वालों में मेरी जानकारी के मुताबिक लास्की ही इकलौता व्यक्ति है. अपनी एक किताब में उसने पूरे यकीन के साथ कहा है कि 'प्रजातंत्र में नैतिक सुस्थिति हमेशा स्वीकारनी पड़ती है.' नैतिकता अगर न हो तो अपने देश में फिलहाल जैसे हो रहे हैं उसी प्रकार प्रजातंत्र के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं.

निर्देश करने लायक आखिरी मुद्दा है कि प्रजातंत्र को प्रजा की निष्ठा की बहुत ज़रूरत होती है. अन्याय सभी देशों में होता है इसमें कोई दो राय नहीं. लेकिन हर जगह उसकी तीव्रता एक-सी नहीं होती. कुछ देशों में अन्याय की तीव्रता बहुत कम होती है तो अन्यत्र कहीं लोग अन्याय के बोझ तले पिचके होते हैं. इस बारे में इंग्लैंड के ज्यू लोगों का उदाहरण दिया जा सकता है. क्रिश्चियनों ने जो अन्याय किया

उनमें ज्यू लोगों को सबसे अधिक नुकसान उठाना पड़ा. हालांकि इस अन्याय से मुक्ति पाने के लिए केवल ज्यू लोगों को ही संघर्ष करना पड़ा. इस अन्याय का कारण भी असामान्य था.

पुराने ईसाई कानून के मुताबिक लड़कों को पिता की सम्पत्ति में विरासत का अधिकार नहीं मिलता था. वजह यह थी कि बच्चे ईसाई नहीं ज्यू हुआ करते थे. राज्य के हिस्से का मालिक मृत्युपत्रों के अनुसार राजा हुआ करता था इसलिए मृत ज्यू व्यक्ति की सम्पत्ति वह स्वीकार कर लेता था. राजा को यह बात पसंद थी. राजा खुश था. मृत ज्यू के बच्चे जब सम्पत्ति का हिस्सा पाने की अर्जी लेकर राजा के पास जाते तब राजा उन्हें थोड़ी सम्पत्ति दिया करता था, और बाकी सब अपने पास रखा करता था. किसी भी अंग्रेज़ व्यक्ति ने ज्यू लोगों की मदद नहीं की. ऐसे हालात में ज्यू लोगों ने अपना संघर्ष जारी रखा. लोकनिष्ठा के अभाव का यह उदाहरण है. लोकनिष्ठा का मतलब है सभी अन्यायों के खिलाफ आंदोलन के लिए खड़े रहने की कर्तव्यनिष्ठा. अन्याय किसके साथ हो रहा है यह बात तब महत्वपूर्ण नहीं रह जाती. इसका मतलब है कि हर किसी को, भले वह अन्याय से पीड़ित हो या न हो, अन्याय से पीड़ित व्यक्तियों की मदद करने की तैयारी करनी होगी. वर्तमान युग के उदाहरण के तौर पर हम दक्षिण अफ्रीका को ले सकते हैं. वहां अन्याय के बोझ तले पिचकी जनता भारतीय है. सच है ना? वहां के गोरों पर अन्याय नहीं होते. लेकिन इसके बावजूद रेवरंड स्कॉट नामक एक गोरा उनका दुख दूर करने के लिए जी-जान से जुटा हुआ है. हाल ही में पढ़ने में आया कि वहां के गोरे वंश के युवा दक्षिण अफ्रिका के भारतीय लोगों के मुक्ति आंदोलन में सहभागी हो रहे हैं. इसी को प्रजानिष्ठा कहते हैं. मैं आपको धक्का लगे इसलिए यह सब नहीं कह रहा हूं. लेकिन कई बार मुझे लगता है कि हम सचमुच बहुत ही भुलक्कड़ हैं. हम दक्षिण अफ्रीका के अन्याय के बारे में बोल रहे हैं, मैं कई बार खुद ही आश्चर्यचकित हो जाता हूं कि विलीनीकरण तथा अन्य बातों के खिलाफ बोलने वाले हम जैसे लोगों के पास हर गांव में क्या दक्षिण अफ्रीका नहीं है? हमारे हर गांव में दक्षिण अफ्रीका है और ऐसा होने के बावजूद कोई सवर्ण जाति वाला – इक्का-दुक्का ही सही वर्गीकृत जातियों की समस्या लेकर लड़ता हुआ दिखाई नहीं देता है. यहां ऐसा क्यों होता है? क्योंकि यहां लोकनिष्ठा नहीं. 'मैं और मेरा बहुमत वालों का देश केवल इसी विश्व में हम खोये रहते हैं.' इस प्रकार की कोई बात अगर होती है तो अन्याय के नीचे पिसने वाले अल्पसंख्यकों को अन्याय निवारण के लिए दूसरों से मदद नहीं मिलेगी. इसी बात से प्रजातंत्र

के लिए खतरा पैदा करने वाले विद्रोह की मानसिकता बढ़ती जाएगी.

हमारी सर्वसाधारण धारणा यह है कि हमें आज़ादी मिली है. अंग्रेज़ चले गये हैं. प्रजातंत्र का पोषण करने वाला संविधान मिला है और अधिक क्या चाहिए? इससे अधिक कुछ किये बिना अपना काम पूरा हुआ है यह सोच कर हमें अब आराम करना चाहिए. संविधान तैयार हुआ है, इसलिए हमारा काम पूरा हो चुका है ऐसी भावना के खिलाफ मुझे आपको चेताना पड़ रहा है. कर्तव्य अभी खत्म नहीं हुआ है. अभी तो सिर्फ शुरूआत हुई है, हमें और भी बहुत कुछ ज़िम्मेदारियां निभानी हैं. आपको यह याद रखना होगा कि प्रजातंत्र का पौधा हर जगह जड़ें नहीं पकड़ता. अमेरिका में वह पनपा, इंग्लैंड में पनपा. फ्रांस में कुछ हद तक पनपा. अन्य जगहों पर असल में क्या हुआ जानने के लिए इस उदाहरण से आपको कुछ हद तक धैर्य प्राप्त होगा. इसी प्रकार आप में से कुछ लोगों को यह याद होगा कि पहले महायुद्ध के परिणामस्वरूप और ऑस्ट्रिया और हंगरी साम्राज्य के विभाजन के स्वरूप विल्सन ने स्वनिर्णय के आधार से ऑस्ट्रिया से अलग छोटे-छोटे राष्ट्रों को बनाया. उनकी शुरूआत भी प्रजातांत्रिक संविधान से और प्रजातांत्रिक शासन से हुई और उनके संविधान में मौलिक अधिकारों का भी समावेश था. क्या आप जानते हैं कि उस प्रजातंत्र का क्या हुआ? क्या प्रजातंत्र का छोटा-सा अंश भी वहां देखने को मिलता है? वे सब खत्म हो गये हैं. समाप्त हो गये हैं. कुछ और विद्यमान उदाहरण लीजिए सीरिया में प्रजातांत्रिक शासन था. कुछेक सालों में ही वहां सेना ने क्रांति की. सीरिया का प्रमुख कमांडर वहां का राजा बना और प्रजातंत्र खत्म हुआ. एक और उदाहरण लीजिए, मिस्र का क्या हुआ मिस्र? 1922 से लेकर अगले 30 सालों तक वहां प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था थी. लेकिन फारुक को रातों-रात सत्ता छोड़ देनी पड़ी और नजीब इजिप्त का तानाशाह बना. उसने तुरंत वहां का संविधान जला दिया.

ये सभी उदाहरण हमारी आंखों के सामने हैं. इसीलिए मुझे ऐसा लगता है कि अपने भविष्य के बारे में हमें बहुत ही सावधान और बहुत ही समझदार बनना होगा. अपना प्रजातंत्र सुरक्षित रखने के लिए और अपनी राह के पत्थर और शिलाएं दूर हटाने के लिए क्या हम कुछ कार्यक्रम हाथ में ले रहे हैं या नहीं इस बारे में हमें गम्भीरतापूर्वक सोचना होगा. आपके सामने रखे मेरे कुछ विचारों से आपमें अगर जागरूकता आयी हो और अगर आपको लगने लगे कि समस्याओं को लेकर हमें लापरवाह रहना नहीं चाहिए तो मुझे लगेगा कि मैंने अपना कर्तव्य पूरा किया है.

(22 दिसम्बर 1952 को पुणे के एक कार्यक्रम में दिये गये भाषण के अंश)

वैचारिक मतभेद के बावजूद

● गणेश मंत्री

गांधी और आंबेडकर आज भी दूर-दूर खड़े हैं. अपने नेताओं से भी बढ़कर उनके अनुयायी होने का दावा करनेवाले लोगों का मानना है कि इन दोनों का मेल-मिलाप असम्भव है. एक तरह से यह कथन गलत भी नहीं लगता. इन दोनों महापुरुषों के स्वभाव, आस्थाओं, विचारों, संवाद-शैली और कार्य-प्रणाली में इतनी भिन्नताएं रही हैं कि समानता के कोई सूत्र नज़र नहीं आते. कहां गांधी और कहां आंबेडकर! इनके व्यक्तित्व भिन्न हैं, इनकी प्राथमिकताएं भिन्न, इनकी संघर्ष-शैलियां भिन्न! इनमें समन्वय का क्या काम? फिर, अनेक सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों तथा प्रसंगों पर दोनों में न सिर्फ मतभेद रहे बल्कि संघर्ष भी हुआ.

गांधी अपने को व्यावहारिक आदर्शवादी मानते थे. यह उनके व्यक्तित्व की मुख्य विशेषता है. व्यावहारिक आदर्शवादी एक-एक कदम सोच-समझकर उठाता है. उसे अपने देश, समाज और अनुयायियों का ध्यान रखना पड़ता है. भारत जैसे देश में

ऊपर चित्र में– गांधीजी, आंबेडकर, सरदार पटेल, सरोजिनी नायडू, कस्तूरबा गांधी आदि

तो और भी ज़्यादा; जहां रूढ़ियां, अंधविश्वास और कई प्रकार की विषमताएं हावी थीं, आज भी हावी हैं. इन परिस्थितियों में सबको साथ लेकर चले बिना स्वराज्य की लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती थी. इस विवशता से गांधी बहुत हद तक परम्परावादी प्रतीत होते थे. यहां तक कि जीवन के आखिरी दौर को छोड़कर वे आजीवन वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करते रहे. कहते रहे कि 'वर्णाश्रम धर्म और अस्पृश्यता में कोई सम्बंध नहीं है.' समाज-परिवर्तन की बात भी उन्होंने पारम्परिक मुहावरे में कही. उन्होंने अस्पृश्यों के लिए सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकारों का संघर्ष छेड़ने के बजाय सवर्णों में पाप-बोध जगाने और उसके प्रायश्चित्त पर ज़ोर दिया. 1931 में नाशिक के कालाराम मंदिर में अस्पृश्यों के प्रवेश के लिए सत्याग्रह के बारे में भी गांधी का यह मत था कि यह सत्याग्रह अछूतों को नहीं, स्पृश्यों को करना चाहिए.

पारम्परिक प्रतीकों को नया अर्थ देने में कुशल गांधी ने भारतीय समाज के पददलितों को 'दलित' कहने के बजाय 'हरिजन' कहा. गांधी छुआछूत ज़रूर मिटाना चाहते थे; किंतु इस हेतु वे स्वराज्य आंदोलन के लिए बनाये गये भारतीय जनता के मोर्चे में न तो दरार आने देना चाहते थे और न ही इसके बहाने अंग्रेज़ सरकार को भारत में बने रहने के लिए मुहलत देना चाहते थे. गांधी अछूतों के हिंदू समाज से अलग होने की बात से भी सहमत नहीं थे. इससे उन पर अंतर्विरोधी रुख लेने की तोहमत भी लगी. यही कि उन्होंने मुसलमानों और सिखों को तो अल्पसंख्यक होने के नाते विशेष अधिकार देना स्वीकार कर लिया, किंतु अस्पृश्यों के लिए पृथक् निर्वाचक मंडल बनाने के विरोध में आमरण अनशन पर बैठ गये.

गांधी ने 1920 में असहयोग आंदोलन के साथ राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व संभाला. तब से देश स्वाधीन होने तक वे उसके सर्वोच्च नेता रहे. कई विषयों पर उनके विचारों में तब्दीली भी आयी. नये अनुभवों और बदली हुई परिस्थितियों में उन्होंने अपनी पुरानी मान्यताओं का मोह छोड़कर सर्वथा नयी मान्यताएं अपना लीं. उन्होंने कहा कि कोई भी व्यक्ति अंतर्विरोधी बातें कहने के डर से, अपनी नयी अनुभूतियों और अनुभवों के अनुसार अपने विचारों के विकास को कैसे दबा सकता है! इसलिए जब उनसे पूछा गया कि आप अपने 'सत्याग्रह दर्शन' की व्याख्या करते हुए एक ग्रंथ क्यों नहीं लिखते, तो उन्होंने हंसकर कह दिया, 'मेरे मन की बुनावट विद्वानों की तरह लिखने की नहीं है. मैं कार्य करनेवाला आदमी हूं. आंदोलन के लिए ज़रूरी विचारों और कार्यक्रमों की स्पष्टता के लिए ज़रूरी होने पर लिख भी लेता हूं. इसलिए जब मेरे विचारों में कोई अंतर्विरोध दिखे तो पुरानी बात को भूलकर नये कथन को मान्य करना.'

इससे बिल्कुल विपरीत थे डॉ. भीमराव रामजी आंबेडकर, जिन्हें उनके अनुयायी पूरी श्रद्धा से 'बाबासाहेब' कहते हैं. डॉ. आंबेडकर जाति-पांत तोड़ने को सर्वोच्च प्राथमिकता देते थे. इस लक्ष्य को पूरा करने में उनको अंग्रेज़ सरकार से सहयोग लेने में कोई हिचक नहीं थी. वे स्वराज्य प्राप्त करने के लिए कांग्रेस के उतावलेपन और भारत को स्वतंत्र करने की अंग्रेज़ों की अनिच्छा का लाभ उठाकर 'अपने लोगों' का भविष्य संवारने के लिए, स्वतंत्र भारत में उनके सामाजिक राजनीतिक अधिकार सुरक्षित कर लेना चाहते थे. गांधी से पूरी तरह उलटी थी आंबेडकर के मानस की बुनावट. वे विद्वान भी थे और कर्मठ राजनीतिज्ञ भी. उनकी वैचारिकता पर विज्ञाननिष्ठा, आधुनिक सामाजिक चिंतन और पश्चिमी राजनीतिक-आर्थिक अवधारणाओं की गहरी छाप थी. उनका मानना था कि किसी भी प्रकार की सामाजिक क्रांति के लिए सुस्पष्ट विचारधारा ज़रूरी है. उन्होंने लिखा भी कि 'मैं राजनीति का, समाज-कार्य में होते हुए भी, आजीवन विद्यार्थी हूं.' गांधी और आंबेडकर के लेखन की तुलना करते हुए यह ठीक ही लिखा गया है कि 'गांधी के लेखन में जो स्थान सत्य और अहिंसा का है, आंबेडकर के प्रतिपादन में वही स्थान स्वातंत्र्य, समता और बंधुभाव की त्रिपुटी का है.'

डॉ. आंबेडकर के लिए जाति-प्रथा, अस्पृश्यता और उसके साथ अभिन्न रूप से जुड़ी सामाजिक विषमता प्रत्यक्ष अनुभव का सत्य था. स्वयं उनको सवर्णों के हाथों अपमान, अन्याय और अमानुषिक व्यवहार झेलना पड़ा था. इसके विपरीत गांधी वैष्णव-जैन संस्कारों में पले-बढ़े थे. 'वैष्णवजन तो तेने कहिए, जो पीर परायी जाणै रे' की भावना से ओत-प्रोत गांधी के लिए अस्पृश्यता परायी पीर होकर भी परायी नहीं थी. पहले दक्षिण अफ्रीका में और बाद में भारत के स्वतंत्रता-संग्राम का नेतृत्व करते हुए रणनीति की दृष्टि से गांधी ने जो भी किया हो, किंतु वे सतत अस्पृश्यता विरोधी रहे. ऐतिहासिक सच तो यह है कि वे धीरे-धीरे, किंतु दृढ़ता के साथ छुआछूत ही नहीं, जाति-प्रथा के विरोधी भी होते गये. जीवन के अंतिम दौर में तो उन्होंने यह तक कह दिया कि वे सवर्ण और अस्पृश्य में विवाह को ही आशीर्वाद देंगे.

गांधी और आंबेडकर के विचारों तथा व्यक्तित्वों का आकलन करते समय गोलमेज परिषद्, अछूतों के लिए पृथक् निर्वाचक मंडल की आंबेडकर की मांग, येरवडा जेल में गांधी के उपवास और समझौते, दोनों में कुछ समय तक सहयोग और उसके बाद अलगाव का निश्चय– बहुत महत्वपूर्ण हैं. गांधी और आंबेडकर की पहली मुलाकात 14 अगस्त, 1931 को मुंबई के मणि भवन में हुई. प्रारम्भिक औपचारिकताओं के बाद तुरंत ही दलित

समस्या पर दोनों में मतभेद स्पष्ट रूप से उभर आये. यह भी अचरज की बात है कि इस मुलाकात तक गांधी को यह जानकारी नहीं थी कि आंबेडकर स्वयं अस्पृश्यों में से एक हैं. वे उनको अपनी ही तरह का एक समाज-सुधारक सवर्ण नेता समझते थे.

इस मुलाकात में गांधी ने अस्पृश्यता-निवारण के लिए अपने और कांग्रेस के प्रयासों का ज़िक्र किया. जवाब में आंबेडकर ने कहा कि 'कांग्रेस ने समस्या को औपचारिक मान्यता देने के अलावा कुछ नहीं किया.' कांग्रेस अपनी कथनी के बारे में ईमानदार नहीं है, अन्यथा वह कांग्रेस की मेम्बरी के लिए खादी पहनने की अनिवार्यता की तरह अस्पृश्यता-निवारण की भी शर्त रख सकती थी. 'आप कहते हैं कि ब्रिटिश सरकार का हृदय-परिवर्तन होता प्रतीत नहीं हो रहा है. मैं भी कहता हूं कि हमारी समस्या पर हिंदुओं का हृदय-परिवर्तन होता नहीं दिख रहा है. जब तक वे अपनी बात पर अड़े हुए हैं तब तक हम न कांग्रेस पर विश्वास करेंगे और न हिंदुओं पर. हम अपनी मदद आप करने और आत्मसम्मान में विश्वास करते हैं. हम महान् नेताओं और महात्माओं में विश्वास करने के लिए तैयार नहीं हैं.' (नवयुग, आंबेडकर अंक)

इस वार्त्तालाप से अस्पृश्यता के विरुद्ध संघर्ष छेड़नेवाले इन दो महापुरुषों के दृष्टिकोणों का अंतर स्पष्ट हो जाता है. मतभेदों की इस अपाट खाई के रहते दूसरी गोलमेज परिषद में गांधी और आंबेडकर में सहमति की कोई गुंजाइश थी ही नहीं. वहां आंबेडकर ने अछूतों के लिए पृथक् निर्वाचक मंडल की मांग की और गांधी ने उसका प्रबल विरोध किया. सम्मेलन में गांधी ने ज़ोर देकर कहा था कि 'अछूतों के राजनीतिक अधिकारों के बारे में बोलने वालों को अपने भारत के बारे में ज्ञान नहीं है. उनको ज्ञान नहीं है कि आज भारतीय समाज किस तरह गठित है– और इसलिए मैं पूरा ज़ोर देकर कहता हूं कि यदि मुझे अकेले ही इसका प्रतिरोध करना पड़ा, तो भी मैं अपना जीवन देकर यह करूंगा.'

इसके पहले आंबेडकर स्पष्ट रूप से यह कह चुके थे कि दलित वर्ग सत्तांतरण के लिए आतुर नहीं है. किंतु आज वह इसका विरोध करने की स्थिति में भी नहीं है. अगर ब्रिटिश सरकार सत्तांतरण की मांग करनेवाली शक्तियों का प्रतिरोध नहीं कर पा रही तो हमारा कहना है कि सत्ता हिंदुओं या मुसलमानों में से किसी एक समुदाय के लोगों के हाथों में न सौंपी जाए; बल्कि इस तरह की शर्तें और प्रावधान रहें कि उसमें सभी समुदायों की साझेदारी रहे. विभिन्न पक्षों के विचारों और मांगों में इतने मतभेदों के रहते हुए उस सम्मेलन में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व पर कोई आम राय होना मुश्किल था.

1932 में ब्रिटिश सरकार ने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के सवाल पर

अपना निर्णय दिया. इसमें अछूतों के लिए भी अलग निर्वाचक मंडल की आंबेडकर की मांग स्वीकार कर ली गयी. उन दिनों गांधी येरवडा जेल में थे. पहले की तरह ही अब भी वे अछूतों के अलग निर्वाचक मंडल को हिंदुओं और भारतीय राष्ट्र के हितों के विरुद्ध मानते थे. इसके विरोध में गांधी ने अपने अहिंसक अस्त्रागार का ब्रह्मास्त्र–आमरण उपवास–प्रयुक्त किया. निश्चय ही ये आंबेडकर के लिए कठिन निर्णय के दिन थे. एक ओर अछूतों के लिए प्राप्त किये गये अधिकारों की रक्षा का दायित्व था तो दूसरी ओर गांधी की जीवन-रक्षा का प्रश्न था. गांधी का उपवास शुरू होने के पहले ही अछूतों की एकता में दरारें पड़ने लगी थीं. इस बीच देश के राष्ट्रवादी समाचारपत्र भी मुस्तैदी से आंबेडकर का विरोध कर रहे थे. सारे देश की निगाहें आंबेडकर पर केंद्रित हो गयी थीं. इन सब दबावों के वातावरण में ही अंततः 'येरवडा समझौता' हुआ, जिसमें संयुक्त निर्वाचक मंडल में ही अछूतों के लिए आरक्षण की व्यवस्था स्वीकार की गयी.

यद्यपि कट्टर गांधीवादियों और उग्र आंबेडकर समर्थकों ने इस सारे प्रसंग को लेकर एक-दूसरे के नेता पर काफी टीका-टिप्पणी की है, लेकिन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो आंबेडकर और गांधी दोनों ने ही उदारता और दूरदर्शिता का परिचय दिया. स्वयं गांधी ने 'हिंदू' के संवाददाता को बताया कि 'हिंदुओं को उनके सदियों के पाप का दंड देने के लिए आंबेडकर अपनी बात पर अड़े रह सकते थे. अगर उन्होंने ऐसा किया होता तो मुझे उनसे कोई शिकायत न होती और मेरी मृत्यु हिंदुओं द्वारा अगणित पीढ़ियों पर किये गये अत्याचारों की मामूली कीमत होती. लेकिन उन्होंने उदारता का रुख लिया और क्षमा का अनुसरण किया, जिसका सभी धर्मों में प्रावधान है. मैं उम्मीद करता हूं कि सवर्ण हिंदू अपने को इस क्षमा के पात्र सिद्ध करेंगे और समझौते का, उसके तमाम निहितार्थों के साथ, शब्दशः और भावतः पालन करेंगे.'

इस बीच गांधी के बारे में आंबेडकर के विचारों में भी परिवर्तन आया था. उनको स्पष्ट लगने लगा था कि जाति-प्रथा, वर्ण-व्यवस्था और अस्पृश्यता-निवारण के सम्बंध में महात्मा के विचार बदले हैं. इसका आंबेडकर ने निस्संकोच स्वागत किया था. उन्होंने कहा भी कि 'अब गांधी को अपना आदमी कहना चाहिए. कारण, वे अब हमारी भाषा और हमारे विचार बोलने लगे हैं.' दिसम्बर 1932 में अप्पासाहब पटवर्धन रत्नागिरी जेल में थे. वे छुआछूत मिटाने के रचनात्मक कार्यक्रम के अनुसार खुद पाखाना साफ करना चाहते थे. किंतु जेल अधिकारियों ने उनको इसकी अनुमति नहीं दी. इसके विरोध में उन्होंने जेल में उपवास शुरू कर दिया. जब गांधी को इसकी खबर मिली तो उन्होंने भी अप्पासाहब

पटवर्धन के समर्थन में उपवास शुरू कर दिया. भारत सरकार ने तुरंत इसपर ध्यान दिया और अप्पासाहब को इसकी अनुमति दे दी गयी. गांधी को एक-डेढ़ दिन से अधिक उपवास पर नहीं रहना पड़ा. यह समाचार तीसरी गोलमेज परिषद के लिए लंदन गये हुए आंबेडकर ने 'डेली हेरॉल्ड' में पढ़ा. इसपर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा, 'मेरी राय में इस बारे में गांधीजी का कार्य सही है और सरकार की नीति गलत है. सरकार को श्री पटवर्धन की इच्छा के अनुसार भंगी का काम करने देना चाहिए था. इसको मना करने का सरकार के पास कोई कारण नहीं था. यदि जातिभेद और तज्जन्य अस्पृश्यता मिटानी है तो यह गलिच्छ धंधा वंश परम्परा से करने की रूढ़ि खत्म होनी चाहिए.'

किंतु गांधी और आंबेडकर में एक-दूसरे के पुनर्मूल्यांकन और परस्पर सहयोग का यह दौर अधिक नहीं चला. मधु लिमये ने गांधी और आंबेडकर के मिलकर काम न कर सकने के तीन कारणों पर ज़ोर दिया है– एक, जातिप्रथा और अस्पृश्यता की बुराई के विश्लेषण में दोनों के बीच मूल दृष्टिभेद था. गांधीजी अनेक वर्षों तक ऊंच-नीच के क्रम तथा अस्पृश्यता के बीच सम्बंध नहीं देख सके. दो, येरवडा समझौते के वादों को लागू नहीं किया गया. आंबेडकर ने पृथक् निर्वाचक मंडल के बदले सीटों के आरक्षण और प्राथमिक चुनाव की व्यवस्था मान ली थी. लेकिन असल बात तो यह थी कि दलित वर्ग जिन कमज़ोरियों का शिकार था, उनको शीघ्र दूर करने का प्रयत्न किया जाए. गांधी और आंबेडकर में अलगाव का तीसरा कारण दलित-मुक्ति के उपायों और नेतृत्व के सम्बंध में दोनों में मौलिक मतभेद था. गांधी दलित-मुक्ति को एक सामाजिक-नैतिक सुधार के आंदोलन के रूप में लेते थे. उन्होंने बार-बार कहा कि कोई काम न तो छोटा है और न ही बड़ा. वे बार-बार श्रम की प्रतिष्ठा पर ज़ोर देते थे. उन्होंने स्वयं मल-मूत्र साफ करने का कार्य किया. उनके अनुयायियों ने भी यह गलिच्छ काम करके समाज के सामने उदाहरण पेश किया. किंतु आंबेडकर इतने से संतुष्ट नहीं हो सकते थे. वे प्रतीकात्मकता के बजाय अस्पृश्यता-उन्मूलन के लिए ठोस संस्थागत और स्थायी आधार तैयार करना चाहते थे. इसलिए उनका ज़ोर शिक्षा, नौकरियों और राजनीतिक अधिकारों पर था.

इसी तरह से दलितों के नेतृत्व के बारे में दोनों में गहरा दृष्टिभेद था. आंबेडकर 'चाहते थे कि अनुसूचित जातियों में निर्भीक नेतृत्व उभरे और उनमें से जानकार, ईमानदार और स्वाभिमानी नेता आयें, न कि खुशामदी और भ्रष्ट नेता, जो उनके विचार से कांग्रेस आंदोलन में पैदा हो रहे थे. वे नहीं चाहते थे कि हरिजन नेता नेहरू, पटेल या अन्य नेताओं के आगे सिर झुकायें.' वर्षों

बाद दलित नेतृत्व की प्रकृति के बारे में डॉ. राममनोहर लोहिया ने भी विचार किया तो उन्होंने पाया कि दलितों के नेता, विशेषकर सत्ता में बैठे दलित नेता या तो दब्बू हैं अथवा दोमुंहे हैं. दब्बू नेता सवर्ण कांग्रेसी नेताओं की (अब तो कथित गैर कांग्रेसी नेताओं की भी) चापलूसी करके जैसे-तैसे कुरसी पा लेने की कोशिश में रहते हैं या अपनी कुरसी बचाये रखना चाहते हैं. कुछ दलित नेता अपनी बिरादरी या अनुयायियों में तो भड़काने और जलन पैदा करनेवाले भाषण देते हैं, परंतु ऊंची जातियों के लोगों में घिघियाने लगते हैं. लोहिया की अपेक्षा थी कि दलितों और पिछड़ों में ऐसे तेजस्वी नेता तैयार हों, जो सिर्फ दलितों के ही नहीं, सारे समाज के नेता बनें. आज के दलित और पिछड़े वर्गों के नेताओं पर गौर करें तो लोहिया की आशा महज दुराशा ही सिद्ध हुई. कांशीराम अथवा दूसरे दलित-पिछड़े समुदायों के उन नेताओं की बात छोड़ दें, जिनका लोहिया से कोई सम्बंध या सरोकार नहीं रहा, लेकिन जिनका उनसे सरोकार रहा है और जो आज भी अपने राजनीतिक फायदे के लिए उनका नाम रटते रहते हैं, वे भी सारे देश और समाज के नेता बनना तो दूर रहा, पूरे दलित-पिछड़े समुदायों के भी नेता नहीं बन पाये हैं. वे अपने तात्कालिक राजनीतिक स्वार्थ से ऊपर ही नहीं उठ पाये. इसलिए सिर्फ अपनी जाति, यहां तक कि क्षेत्र विशेष में अपनी जाति के नेता बनकर रह गये हैं. इसलिए आज दलितों-पिछड़ों की राजनीतिक दुकानदारी करनेवालों की तो कोई कमी नहीं है, लेकिन भारतीय समाज में इन शोषित-दमित तबकों की राजनीति से सामाजिक-आर्थिक समता का कोई बड़ा अभियान नहीं उभर रहा. समाज में महज कलह उभर रही है. इस मंथन से सिर्फ विष छलक रहा है, समता आधारित नव समाज-रचना का अमृत नहीं उपज रहा.

जो भी हो, गांधी और आंबेडकर के विचारों तथा व्यक्तित्वों की तुलना करते समय यह बुनियादी बात भुला दी जाती है कि इन दोनों के जीवन-संदर्भ और कार्यक्षेत्र अलग थे. डॉ. आंबेडकर ने उन लोगों में आत्माभिमान जगाया, जिन्हें हिंदू समाज-व्यवस्था ने सदियों से आत्महीन बना दिया. उन्होंने एक ओर 1927 में महाड से चवदार तालाब पर सत्याग्रह करके दलितों को अमानुषिक छुआछूत के विरुद्ध उठ खड़े होने की प्रेरणा दी तो दूसरी ओर शिक्षण संस्थाओं का जाल बिछाकर महाराष्ट्र के दलितों को आधुनिक जीवन के लिए आवश्यक क्षमताओं से लैस होकर सम्मानपूर्वक जीवन जीने की दिशा में प्रवृत्त किया. देश के अनेक भागों में आज अगर अत्याचारों के विरुद्ध युवा दलितों में रिरियाने के बजाय संघर्ष का तेजस्वी स्वर सुनाई देता है तो यह डॉ. आंबेडकर की ही देन है.

जब आंबेडकर दलितों को जगाने का

प्रयत्न कर रहे थे तभी गांधी अस्पृश्यता के विरुद्ध सवर्णों की पथराई हुई अंतरात्मा को झकझोरने, उनको अपनी गलती महसूस कराने, उनमें अपने पूर्वजों की और खुद अपनी अमानुषिकता के लिए पापबोध जाग्रत करने का कार्य कर रहे थे. संत साहित्य को अपना हथियार बनाकर वे छुआछूत के समर्थकों से लड़े. सवर्णों में पश्चात्ताप भाव और न्याय-बुद्धि जगाने का गांधी का यह प्रयत्न देश में दलितों की स्थिति को देखते हुए भी सही था. देश के किसी भी एक भाग में दलित बहुमत में नहीं थे– आज भी नहीं हैं. वे देश भर में बिखरे हुए थे. आर्थिक दृष्टि से भी वे नितांत दीन-हीन थे. सदियों से अन्याय के विरुद्ध लड़ने की कोई आदत उनमें नहीं थी. इतनी प्रतिकूल परिस्थितियों में दलितों का कोई आंदोलन तभी सफल हो सकता था जब सवर्णों का खुले दिलोदिमागवाला और आगे देखनेवाला हिस्सा उसमें सक्रिय सहयोग दे. गांधी ने इसके लिए ज़मीन तैयार की थी. आज जो लोग सिर्फ दलितों की संघर्ष क्षमता के बल पर उनको अधिकार दिलाने की बात कर रहे हैं, वे इस बात से अनभिज्ञ हैं कि इसमें पनपने वाली कटुता और वैमनस्य के आधार पर किसी समतामय समरस समाज की रचना नहीं हो सकती.

इस संदर्भ में गांधी और आंबेडकर के साथ उनके अपने अनुयायियों द्वारा किये गये छल को भी समझना उपयुक्त रहेगा. गांधी और आंबेडकर दोनों ही विभूति पूजा के सख्त आलोचक थे. वे अवतारवाद की पुरानी परम्परा से जूझे और उन्होंने बार-बार किसी एक महापुरुष या देवता के भरोसे बैठे रहने तथा उसकी बातों को चिरंतन सत्य मान लेने की हम भारतवासियों की आदत का विरोध किया. किंतु आज गांधी–और उनसे भी ज़्यादा डॉ. आंबेडकर के अनुयायी उनके एक एक शब्द, एक-एक कार्य को कमोबेश ईश्वर का कथन बनाने में जुटे हैं. इसी का परिणाम है कि अन्यायपूर्ण जाति-व्यवस्था के विरुद्ध एकजुट संघर्ष करने के बजाय सामाजिक क्रांति की शक्तियां न सिर्फ बंटी हुई हैं वरन् एक-दूसरे की काट करने में अपनी शक्ति नष्ट कर रही हैं. यदि हमें सामाजिक समता के लिए सार्थक संघर्ष करना है तो दूर-दूर खड़े गांधी और आंबेडकर को एक-दूसरे के निकट लाने का प्रयास करना ही होगा. इसका अभिप्राय यह नहीं है कि हम ऐतिहासिक तथ्यों को तोड़ें-मरोड़ें; किंतु समय विशेष और एक खास परिस्थितियों में इन दोनों के रिश्तों में उगे झाड़-झंखाड़ और फालतू कटुताओं की धूल को साफ करें. गांधी और आंबेडकर को जातिग्रस्त मानसिकता और सामाजिक विषमता के विरुद्ध संघर्ष में एक-दूसरे का पूरक बनाने का संकल्पबद्ध प्रयास तो होना ही चाहिए.

(लेखक की पुस्तक 'गांधी और आंबेडकर' से साभार)

ओळीस पहिल्या
वेळीं ५ आणे.
दुसऱ्या वेळीं ४आ.
कायम २॥ आणे.

मूकनायक

वर्गणीचा दर.
वार्षिक ट. ह. सह
२॥ रुपये.

काय करूं आतां धरूनियां भीड । निःशंक हें तोंड वाजविलें ।।
नव्हे जगीं कोणी मुकीयांचा जाण । सार्थक लाजून नव्हे हित ।।

वर्ष १ लें.] मुंबई, शनिवार ता. ३१ जानेवारी १९२० [अंक १ ला

मूकनायक.

भिन्न जातींचा हिंदुधर्माच्या पोकळीत समावेश होतो. एकधर्मीयत्वाच्या भावनेपेक्षा भिन्न जातीयत्वभावनेच्या मुळ्या किती खोल गेल्या आहेत हे हिंदूंना सांगणे नकोच. एखाद्या युरोपीय गृहस्थाने आपण कोण? या प्रश्नास इंग्लिश, जर्मन, फ्रेंच, इटालियन इत्यादीप्रकारचे उत्तर दिलें की समाधान होते. परंतु हिंदूंची मात्र तशी
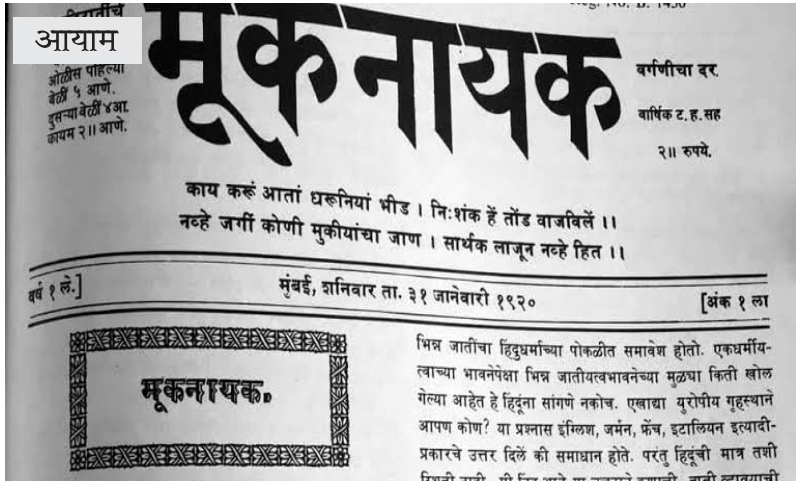
सौ साल से बोलता मूकनायक

● गंगाधर ढोबले

आम्बेडकर की संविधान निर्माता की छवि बहुत लोकप्रिय है. इस छवि में विधिज्ञ आंबेडकर, मानववंश शास्त्री आंबेडकर, शिक्षाविद् आंबेडकर, अर्थशास्त्री आंबेडकर, इतिहासकार आंबेडकर, जल विज्ञानी आंबेडकर, मजदूर नेता आंबेडकर, समाज सुधारक आंबेडकर, धर्मवेत्ता आंबेडकर, राजनीतिक नेता आंबेडकर, पत्रकार आंबेडकर जैसी उनकी कई छवियां विलुप्त हुई-सी लगती हैं. उन्हें महज जुझारू दलित नेता कहना भी अन्यायपूर्ण होगा. संविधान निर्माता के रूप में वे सबके हो गये– दलितों के भी और सवर्णों के भी. यहां भेद खत्म हो गया, समता स्थापित हो गयी.

इस लेख को पत्रकार आंबेडकर तक सीमित रखते हैं. इस पर कम लिखा गया है. विवेचनात्मक और समीक्षात्मक तो अत्यल्प ही है. आंबेडकर चार पत्रों के जन्मदाता हैं– 'मूकनायक' (1920-1923), (जो बंद पड़ने के बाद 'अभिनव मूकनायक' के नाम से भी कुछ दिन निकला.) 'बहिष्कृत भारत' (1927-1929), 'जनता' (1930) और 'प्रबुद्ध भारत' (1956). पहले दो पाक्षिक थे. 'जनता' का ही नाम बदलकर उसे 'प्रबुद्ध भारत' किया गया. 'मूकनायक' व 'बहिष्कृत भारत' का सम्पादन स्वयं आंबेडकर किया करते थे; जबकि 'जनता' व 'प्रबुद्ध भारत' का सम्पादन वे अन्यों से

करवा लेते थे. सभी बाबासाहब के आंदोलन के मुखपत्र ही थे.

ये सारे पत्र मराठी में थे, फिर भी मराठी पत्रकारिता के इतिहासकारों ने आंबेडकर की उपेक्षा की है. यह इतिहास तिलक, आगरकर, केलकर जैसे स्थापित पत्रकारों के पास आकर रुक जाता था. प्र.न. जोशी के ग्रंथ 'मराठी वाङ्मयाचा विवेचक इतिहास' (मराठी साहित्य के इतिहास की मीमांसा), में केवल एक पंक्ति का ज़िक्र है. त्र्यं. वि. पर्वते ने बाबासाहब के कई साक्षात्कार किये. उनकी पुस्तक का नाम है 'मराठी जर्नलिस्म'. इसमें छोटे-छोटे अखबारों व सायं दैनिकों तक के नाम हैं, लेकिन बाबासाहब के 'मूकनायक', 'बहिष्कृत भारत', 'जनता' जैसे अखबारों का ज़िक्र तक नहीं है. लेकिन बाद में स्फुट लेखन में यत्र-तत्र आंबेडकर के पत्रों की संक्षिप्त चर्चा आती है. रा.के.लेले के 'मराठी वृत्तपत्राचा इतिहास' (मराठी अखबारों का इतिहास) (1984) में आंबेडकर की पत्रकारिता की चर्चा है. डॉ. वी.डी. राव ने 'इंडियन प्रेस' में छपे लेख 'दि बिगनिंग एंड ग्रोथ ऑफ मराठी प्रेस' में ब्राह्मणेतरों के संघर्ष के बारे में चर्चा करते समय बाबासाहब के पत्रों का ज़िक्र किया है. इस तरह गैर-दलित इतिहासकारों के लेखन में बाबासाहब की पत्रकारिता अछूती ही रही. शायद रूढ़ अर्थों में वे इन पत्रों को पत्रकारिता ही नहीं मानते हों या फिर महाराष्ट्र में उस समय उग्र रहा ब्राह्मण– ब्राह्मणेतर विवाद इसकी जड़ में रहा हो. इसकी सच्चाई खोज का विषय है.

लोकमान्य तिलक के 'केसरी' का वाकया इस संदर्भ में उल्लेखनीय है. 'केसरी' ने 'मूकनायक' पर दो टूक अभिप्राय देने अथवा उसका विज्ञापन छापने से भी इनकार कर दिया था. स्वयं बाबासाहब ने 'बहिष्कृत भारत' के 20 मई 1920 के अंक में इस घटना का ज़िक्र किया है. उनके ही शब्दों में ही इसे पढ़ना बेहतर है. मूल शब्द मराठी के हैं, उनका भावानुवाद इस तरह हैं– 'हमें अच्छी तरह याद है कि, जब 1919 में हमने 'मूकनायक' पत्र शुरू किया ('मूकनायक' का पहला अंक ही 31 जनवरी 1920 प्रकाशित हुआ. इसके पूर्व की यह बात लगती है या शायद सन् गलत पड़ा है.) तब 'केसरी' से हमने हमारा विज्ञापन नि:शुल्क छापने का अनुरोध किया था, लेकिन इसे ठुकरा दिया गया! बाद में हमने 'आपका शुल्क अदा करने' की बात कही तो, जगह न होने का जवाब दिया गया! यही क्यों, न 'मूकनायक' पर अभिप्राय लिखा, न वापसी भेंट भी दी.' आंबेडकर के जीवनीकार धनंजय कीर ने इस घटना पर भाष्य करते हुए कहा है, '(इससे पता चलता है कि) अस्पृश्यता का कलंक नष्ट करने की दृष्टि से वह

समय कितना प्रतिकूल व कठोर था.' लोकमान्य तिलक के जीते जी ऐसा हुआ, यह सबसे क्लेशदायक बात है– (विश्वभूषण डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर-मानस आणि तत्वविचार)' मंगेश दहिवाले कहते हैं, इस घटना के बाद से तिलक के 'केसरी' और 'बॉम्बे क्रॉनिकल' आंबेडकर के कट्टर विरोधी हो गये. कटुता बेहद बढ़ गयी थी. इस कटुता को यहां उभारने का कोई कारण नहीं है.

दलित इतिहासकारों और साहित्यिकों ने ही बाबासाहब की पत्रकारिता की विवेचना की है. बाबासाहब के जीवनीकार चां.भ. खैरमोडे व डॉ. धनंजय कीर के ग्रंथों में दलित आंदोलन के संदर्भ में बाबासाहेब के पत्रों पर गम्भीरता से विचार किया गया है. आप्पासाहब रणपिसे की किताब 'दलितांची वृत्तपत्रे' (1962), रत्नाकर गणवीर, डॉ. हरिश्चंद्र निर्मले एवं तुकाराम हिवराले ने आंबेडकर की पत्रकारिता पर पुस्तकें प्रकाशित कीं. गंगाधर पानतावणे ने बाबासाहब की पत्रकारिता पर स्वतंत्र किताब लिखी है– 'पत्रकार आंबेडकर'. अमेरिकी शोधकर्ता डॉ. एलिनार झेलियट का प्रबंध 'डॉ. आंबेडकर एंड दि महार मूवमेंट' इस दृष्टि से उल्लेखनीय है.

'मूकनायक' आंबेडकर की पहली शंखध्वनि थी. सामाजिक न्याय की नींव के पत्थर की तरह उसने काम किया. यह नींव 'बहिष्कृत भारत', 'जनता' व 'प्रबुद्ध भारत' का आधार बनी. महाराष्ट्र के तत्कालीन मुख्यमंत्री शरद पवार ने 'डॉ. बाबासाहेब यांचे बहिष्कृत भारत आणि मूकनायक' ग्रंथ की भूमिका में लिखा है, 'आंबेडकर मानते थे कि दलितों को हिंदू धर्म की सामाजिक व मानसिक गुलामी से मुक्त करने के लिए उनका उचित प्रबोधन ज़रूरी है और इसके लिए अखबार जैसा बेहतर कोई अन्य साधन नहीं हो सकता.' दलितों को बंधुत्व के आधार पर सामाजिक न्याय दिलाना तथा अंग्रेज़ों से सत्ता के हस्तांतरण में भी उन्हें सहभागी बनाना आंबेडकर के आंदोलन के मुख्य लक्ष्य थे. इन लक्ष्यों को 'मूकनायक' ने मुखर किया.

'मूकनायक' का पहला अंक 31 जनवरी 1920 को प्रकाशित हुआ और एक युगप्रवर्तक कार्य आरम्भ हुआ. उसके पहले सम्पादक पांडुरंग नंदराम भटकर थे. सम्पादक के रूप में भटकर का नाम भले छपता था, लेकिन सबकुछ बाबासाहब ही करते थे. इसके पहले 12 अंकों में छपे सम्पादकीय बाबासाहब ने लिखे हैं. उसी समय उनका आगे के अध्ययन के लिए इंग्लैंड जाना तय हुआ और भटकर के बजाय पाचवें अंक से ज्ञानदेव ध्रुवनाथ घोलप को ज़िम्मेदारी सौंपी गयी. घोलप 'मूकनायक' के आरम्भ से ही उससे जुड़े थे. वे महाराष्ट्र विधान परिषद के पहले दलित सदस्य भी मनोनीत हुए. घोलप का 'मूकनायक' से ध्यान बंट गया. वे उसे

चला नहीं पाये. इससे उनके बाबासाहब के साथ रिश्ते तल्ख हो गये. उन्हें हटा दिया गया (घोलप बाद में कांग्रेस में शामिल हो गये.) और 1923 में बंद पत्र को 'अभिनव मूकनायक' के नाम से फिर ज़िंदा करने की कोशिश की गयी. लेकिन वित्तीय संकटों के कारण 'अभिनव मूकनायक' भी ज़्यादा दिन चल नहीं पाया और बंद पड़ गया. अभी मूल 'मूलनायक' के 12 अंक ही उपलब्ध है.

छत्रपति शाहू महाराज की 2500 रुपए की आर्थिक सहायता से 'मूकनायक' खड़ा हुआ. 1920 के 2500 रुपए आज की तुलना में लाखों रुपए हो जाएंगे. वार्षिक चंदा ढाई रुपए और हर अंक का मूल्य ढाई आना था. शुरू में कोई 700 प्रतियां छपती थीं. यह संख्या 1000 तक पहुंची और बाद में घटते-घटते वह बंद पड़ गया. संकट की घड़ी में आंबेडकर के कोलम्बिया यूनिवर्सिटी के सहपाठी नवल भटेना उनकी आर्थिक सहायता करते रहे. पारसी सज्जन भटेना उद्योगपति थे. उन्होंने गोदरेज समूह से भी 'मूकनायक' की सहायता करवायी. आंबेडकर और भटेना की दोस्ती बड़ी दिलचस्प है. भटेना कांग्रेस के पक्षधर थे और आंबेडकर विरोधी. फिर भी, भटेना आंबेडकर की सहायता करते रहे. 'मूकनायक' महाराष्ट्र में आमजन की भाषा मराठी में था, जबकि उसी समय महात्मा गांधी ने 'हरिजन' उच्च वर्ग की भाषा अंग्रेज़ी में शुरू किया था. दोनों सिरों से हुए प्रबोधन ने एक सामाजिक क्रांति को जन्म दिया.

मराठी पत्रकारिता में अखबार के नाम के साथ अपना मिशन स्पष्ट करने वाले घोष– वाक्य छापने की परम्परा थी, जो आज भी कहीं-कहीं दिखाई देती है. आंबेडकर ने 'मूकनायक' की दिशा स्पष्ट करने के लिए संत तुकाराम की चौपाई (मराठी में छंद का नाम है – ओवी) पहले अंक से ही छापी है–

काय करूं आतां धरूनियां भीड।
नि:शंक हे तोंड वाजविलें।।
नव्हे जगीं कोणी मुकीयांचा जाण।
सार्थक लाजून नव्हे हित।।

(अर्थात– मैं क्यों पीछे हटूं? मैंने अब हिचक छोड़ दी है और बोलना शुरू कर दिया है. इस धरती पर गूंगे की बात सुनता कौन है? शालीनता भर ओढ़ने से कुछ नहीं मिलता.)

'बहिष्कृत भारत' में भी संत ज्ञानेश्वर की 'ओवी' छपी है. ज्ञानेश्वर ने बारहवीं सदी में पहली बार भगवद् गीता पर मराठी में टीका लिखी, जिसका नाम 'ज्ञानेश्वरी' है. यह उसी का छंद है. आठ पंक्तियों का यह घोष वाक्य है. इसकी केवल अंतिम दो पंक्तियों का ज़िक्र कर देने से लक्ष्य स्पष्ट हो जाएगा. कृष्ण अर्जुन से कहते हैं–

आता पार्थ नि:शंकु होई।
या संग्रामा चित्त देई।।
एथ हे वाचनी काही। बोलो नये।।

(अर्थात– अब केवल संग्राम. संग्राम के अलावा कुछ नहीं.) आंबेडकर की बहिष्कृत समाज को यही ललकार थी.

'मूकनायक' के पहले अंक के सम्पादकीय में बाबासाहब ने इसी संग्राम की अपनी भूमिका स्पष्ट की है. इस भूमिका में समता, बंधुत्व और सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष छेड़ने का ज़िक्र है. उनके ही शब्दों में, 'हिंदू समाज में विषमता जितनी अनुपम है, उतनी ही वह निंदास्पद भी है... हिंदू समाज एक मीनार है. एक-एक जाति उसकी एक-एक मंजिल है. ...(लेकिन) इस मीनार में सीढ़ियां नहीं हैं. इसलिए एक मंजिल से दूसरी तक जाने का मार्ग नहीं है. निचली मंजिल का व्यक्ति, चाहे वह कितना भी लायक हो, ऊपरी मंजिल पर नहीं जा सकता और ऊपर की मंजिल का आदमी, चाहे कितना भी नालायक हो, निचली मंजिल पर ढकेला नहीं जा सकता.'

'मूकनायक' में आंबेडकर ने दलित आंदोलन को वैचारिक दिशा दी. उनके कुछ अग्रलेखों के चंद उदाहरण इस दिशा को अधिक स्पष्ट करते हैं–

'विदेशियों की दासता से मुक्त होने के लिए प्रयासरत राष्ट्रीय सभा (आंबेडकर कांग्रेस को इसी नाम से सम्बोधित करते थे) के स्वकीयों को स्वकीयों की ही दासता से मुक्त करने के प्रयासों का अनुसंधान करें तो (पता चलेगा कि) उनका (दलितों का) दास्य कायम रखने की ही उसकी (कांग्रेस की) मंशा है!' (28 फरवरी 1920 के 'मूकनायक' का सम्पादकीय)

'... इस समाज (बहिष्कृत समाज) को कुछ धूर्त लोगों ने अपने स्वार्थ के कारण नित्य अंधेरे में सड़ते रहने के लिए मजबूर किया है. ...अन्याय सहन न होना, यही मनुष्य के मन का उन्नत रूप है.' (14 अगस्त 1920 का सम्पादकीय)

'देश की बागडोर उसी देश के लोगों के हाथ में होना यह राज्य प्रणाली स्पष्ट दिशा देने वाली है. लेकिन जहां एक देश का शासन दूसरे देश के लोग चलाते हैं उस स्थिति को राज्य नहीं कहा जा सकता.' (10 अप्रैल 1920 का सम्पादकीय)

'... चावल-सुपारी से काल्पनिक देवता का समाधान हो सकता है, लेकिन हमारा नहीं.' (अर्थात– देवता के बारे में भ्रम फैलाना दूसरों को लूटने का मार्ग है!) (11 सितम्बर 1920 का सम्पादकीय)

'मूकनायक' आंबेडकर की पहली रणभेरी था. अत्यंत प्रतिकूल परिस्थितियों में वह बोलता रहा. बोलते-बोलते एक सदी बीत गयी. लेकिन, आज भी उसके स्वर मंद नहीं पड़े हैं; बल्कि अधिक तल्खी से सुनाई देते हैं. समता व बंधुत्व के संघर्ष की एक बहुत बड़ी अहिंसक क्रांति को उसने जन्म दिया. जब तक विषमता है और सामाजिक न्याय की दरकार होगी तब तक अलग-अलग रूपों में 'मूकनायक' अवश्य उपस्थित रहेगा. ❑

मनुष्य की पहचान मनुष्यत्व में ही है...

● नंदकिशोर आचार्य

हिंसा को परिभाषित करते हुए जोहन गोल्तंग ने कहा है कि मानवीय आत्मसिद्धि–ह्यूमन सेल्फ-रियलाइजेशन में कोई भी निवारणीय बाधा हिंसा है. मनुष्य को मनुष्यत्व के रूप में पहचानना और बने रहना, यही उसकी आत्मसिद्धि है. मैं यहां आत्मा-परमात्मा की आत्मसिद्धि की बात नहीं कर रहा हूं. वह अपने रिश्तों में, अपने विचारों में, अपने सम्बंधों में मनुष्यत्व की सिद्धि कर सकता है तो यही उचित है और यही आत्मसिद्धि है. इसमें जो भी हटा सकनेवाली बाधा आती है, वह हिंसा है. दूसरों के प्रति भी, और अपने प्रति भी.

इसलिए मैं यह मानता हूं कि यह परिभाषा एन्थ्रोपोसेन्ट्रिक या मानव केंद्रित नहीं है. यह अन्य सभी के प्रति हिंसा को शामिल करती है. मनुष्य यदि दूसरों के प्रति हिंसा करता है तो वह मनुष्यत्व के प्रति भी हिंसा कर रहा होता है. इसीलिए हम कह सकते हैं कि दूसरी चीज़ अपने आप शामिल हो जाती है.

मैं आपको एक घटना बताऊं. जब मैं आईआईआईटी हैदराबाद में था तब विद्यार्थियों से इस तरह के विषयों पर बातचीत के दौरान एक लड़के ने खड़े होकर कहा– अगर मैं यह शीशा तोड़ दूं तो मैंने किसी को मारा नहीं, मैंने किसी के प्राण को नष्ट नहीं किया. यह तो निर्जीव वस्तु है इसे मैंने तोड़ दिया. तो क्या यह हिंसा है? तो मैंने कहा कि मैं इसे हिंसा कहूंगा. बिना किसी उचित कारण के अगर ऐसा कर रहे हो तो अपने मनुष्यत्व को मार रहे हो. अपने आपको हिंसक बना रहे हो. यह हिंसा है तुम्हारे अपने प्रति. तुमने किसी जीव को तो नहीं मारा. जैन दर्शन में इसको भाव हिंसा कहते हैं. आपने किसी को मारा नहीं है, मन में सोच लिया है तो वह भी भाव हिंसा है. तो एक प्रकार से हम यह परिभाषा लें तो यह देखना पड़ेगा कि हिंसा कितने प्रकार की है? कितने प्रकार की स्थितियां ऐसी हैं जो हमारी आत्मसिद्धि में बाधा बनती हैं.

प्रत्यक्ष हिंसा क्या होती है? यह हम सब जानते हैं. लेकिन जो हिंसा है वह अधिक घातक सिद्ध होती है. बड़े पैमाने पर प्रत्यक्ष हिंसा की तुलना में हम कह ही सकते हैं कि प्रदूषण के कारण कई बीमारियां

और लोगों की मौत होती है. इत्यादि-इत्यादि. यह सब जो कुछ होता है वह सब हिंसा ही है. क्योंकि वो किसी न किसी को मार रही है. लेकिन गाल्तंग यह कहता है कि अप्रत्यक्ष हिंसा दो प्रकार की होती है. एक संरचनात्मक हिंसा और दूसरी को कहते हैं सांस्कृतिक.

जो भी हमारे पारिवारिक रिश्तों की संरचना है वह सब ढांचागत है. हम सामाजिक ढांचा कहें, पारिवारिक ढांचा कहें, उसको हम आर्थिक ढांचा कहें, अगर एक ऐसी अर्थव्यवस्था विकसित होती है जो सबको स्वस्थ रोजगार नहीं दे सकती. जो स्वस्थ जीवन के लिए साधन जुटाने में असमर्थ होती है, अपनी प्रक्रिया की वजह से नहीं जुटा पाती है, वो भी हिंसा है. इसीलिए शोषण एक तरह की हिंसा है. अगर आप किसी का अपमान करते हैं, उसको नीचा मानते हैं अपने से तो वह भी एक प्रकार की हिंसा है. आपने उसके 'मनुष्य' को मारा है. वास्तव में तो नहीं मारा, मन में तो आपने मार ही दिया. तो यह एक प्रकार से ढांचागत हिंसा है. जितने प्रकार के ढांचे आपको समाज में दिखाई देते हैं. अब आप देखिए कितने ढांचे ऐसे हैं जो हिंसक नहीं है आज के ज़माने में.

अब आप शिक्षा के ढांचे को ले लीजिए, जिससे हम सब जुड़े हुए हैं. उसमें कितनी हिंसा है? टीचर और छात्र के बीच सम्बंध कितने हिंसक हैं? अध्यापक और सरकार के बीच सम्बंध कितने हिंसक हैं? मैनेजमेंट के सम्बंध कितने हिसक हैं? जो कुछ पढ़ाया जा रहा है. हमारे जो पाठ्यक्रम हैं वे हिंसा को कितना बढ़ाते हैं? जो कुछ पढ़ाया जा रहा है, वह कितना हिंसक है? हमारी भाषा कितनी हिंसा बढ़ाती है? भाषा में आप देखेंगे कि मोटे तौर पर पुरुषवाचक संज्ञाएं कितनी अधिक प्रधान हैं. उसके बाद हम उसे नर से नारी कर देते हैं, सिंह से सिंहिनी कर देते हैं. यानी 'केंद्र' में कौन है? भाषा के केंद्र में 'पुरुष' वाची है. आप उसको बदलकर यानी जो महिला डॉक्टर है उसे डॉक्टरनी कहते हैं. डॉक्टर नहीं कहते. एक सामान्य-सी बातचीत मैं आपसे करूं. यह हमारे साथ नहीं है, दुनिया की सारी भाषाओं में है. जैसे ऐम्परर से ऐम्परेस बना और टाइगर से टाइग्रेस बना. हमारे एक मित्र कहते हैं कि छोटी किताब के लिए 'कितबिया' छापी है. किताब भी वैसे स्त्रीलिंग ही है. लेकिन इसको और भी छोटा करके कहा है. जो एक प्रकार से छोटी चीज़ है जो सेकंडरी है उसको हमने स्त्रीवाचक बना दिया. वेद में उषा को भी देवता कहा है. हम उसको देवी कहने लग गये. वनस्पति को भी देवता कहा गया है और हम उसे देवी कहने लग गये. तो इस प्रकार से हमारी भाषा से सारी चीज़ें आ गयी. ठीक यही चीज़ें शिक्षा में भी आ गयी. सुभद्रा कुमारी चौहान की एक कविता है– खूब लड़ी मर्दानी, वह

तो झांसी वाली रानी थी. अरे मर्दानी क्यों भई? हम सब उसकी खूब प्रशंसा करते हैं. बड़े भक्त हैं उस कविता के. लेकिन उसका भाषिक विश्लेषण करेंगे तो जो 'मर्दानी' नहीं है उसे 'स्त्रैण' कहते हैं. ये हमारी भाषा के शब्द हैं. आपको लगता है कभी कि यह हिंसक है? यह भाषा कितनी हिंसक है? यह सोचते हैं हम कभी? हमको लगता है कि यह नहीं होना चाहिए?

> *हमारी विश्वास प्रणाली यह कहती है कि स्त्री पुरुष से नीचे है. हमारी विश्वास प्रणाली यह कहती है कि मज़दूर मालिक से नीचे है. हमारी विश्वास प्रणाली मनुष्य मनुष्य में भेद पैदा करती है.*

आजकल यूरोप में तो कुछ जगह यह होने लगा है. 'एक्ट्रेस' नहीं लिखते 'एक्टर' ही लिखते हैं. उसके लिए 'शी' इस्तेमाल करते हैं, 'ही' नहीं करते. पोयट ही लिखते हैं पोयटेस नहीं लिखते. ये सब सुधार करने की कोशिशें हैं. मुझे नहीं लगता कि लोग ये होने देंगे. समाज के दूसरे ढांचे ही ले लो. हमने ये मान लिया कि जो आदमी पैसा लगायेगा वो मुनाफा कमायेगा. यह सामान्य धारणा है. क्या वास्तव में ऐसा है कि जो पैसा लगाता है उसे ही मिलना चाहिए. जो बहुत बड़े पूंजीवादी विचारक माने जाते हैं, पूंजीवाद के विस्तार में जिनका बहुत बड़ा योगदान रहा है. उनमें एक है 'डेविड रिकार्डो'. उन्होंने कहा कि श्रम भी पूंजी है. जो मेहनत करता है वह भी एक तरह की पूंजी है. जिस तकनीकी और ज्ञान के आधार पर यह उत्पादन हो रहा है. वो ज्ञान क्या किसी एक व्यक्ति की सम्पत्ति है? वो पूरी मानवता के इतिहास की सम्पत्ति है. मनुष्य ने अपनी विकास यात्रा में जो ज्ञान एकत्रित किया है वह सबका है. जैसे पृथ्वी सबकी है. उसी तरह से वह ज्ञान भी सबका है. वो जो ज्ञान सबका है उसका फायदा एक ही व्यक्ति क्यों उठाये? जो श्रम कर रहे हैं उसका फायदा एक ही व्यक्ति क्यों उठाये?

लेकिन हमारा ढांचा ऐसा बना हुआ है. उसमें यही हो सकता है, और कुछ नहीं. कभी राज्य के बारे में भी ऐसा ही था, लेकिन आज ऐसा नहीं है. आज हम लोकतंत्र में हैं, फिर चाहे कैसी भी हो? फिर राज्य के बारे में भी ऐसा ही है, जो राजा होगा वही करेगा, जो वह चाहेगा. राजा सब कुछ कर सकता है. राजा का शब्द ही कानून है. जो उसने कह दिया वही नियम है. जो राजनीतिक ढांचा था उसने ये सारी चीज़ें पैदा की हैं. अभी भी हमने यह मान लिया है कि जो सरकार आपने चुनी वो सरकार पांच साल रहेगी ही. वो जो कुछ भी करे. संसद ने पास कर दिया वो हो गया. अधिक से अधिक यही तो करना है ना! तो अगर ये करना

है तो वह आपके प्रति जो चाहे हिंसा कर सकती है. दुनिया भर की संसदें ऐसा करती हैं. महात्मा गांधी ने संसद के लिए बड़ा गलत शब्द इस्तेमाल किया था. जो मैं यहां दोहराना नहीं चाहता. मैं उसको उचित शब्द नहीं मानता हूं. गांधीजी ने भी यही कहा था मैं उसको बदलना चाहूंगा. सारी संसदों की जो मां मानी जाती है. उन्होंने कहा संसद जो है वह वैश्या और बांझ है. यह दोनों शब्द महिलाओं के लिए अपमानजनक है. एक महिला मित्र ने आपत्ति प्रकट की तो उन्होंने भी उसे मान लिया था कि यह उचित नहीं था. मैं दुबारा लिखूं तो मैं इसे बदलना चाहूंगा. लेकिन इसके पीछे जो भाव था वह यह था कि यह कुछ करती वरती नहीं है.

मैं आपको एक उदाहरण देता हूं. हमारे देश में जब आपातकाल लगा. संसद का कार्यकाल पांच साल है. वर्ष 1971 में चुनाव हुए थे, पांच साल 76 में पूरे होते थे. आपको याद है. 76 में इमरजेंसी थी. चुनाव उन्हें कराना नहीं था. तो उन्होंने संसद से एक विधेयक पारित करवाया कि लोकसभा का कार्यकाल छह साल का होगा. अब सोचिए आप छह साल कर सकते हैं तो छह से दस साल भी कर सकते हैं. उसमें क्या समस्या है, अधिकार आपके हाथ में है. एक और आपको उदाहरण देता हूं. नेपोलियन तृतीय नेपोलियन बोनापार्ट का भतीजा 1848 में लागू हुए संविधान के अंतर्गत राष्ट्रपति चुना गया. उन्होंने एक प्रस्ताव करवाया संसद से कि वे दस साल के लिए राष्ट्रपति हो गये. संसद को अधिकार था, उन्होंने कर दिया. और उसके बाद उसी संसद ने एक प्रस्ताव पारित कर दिया कि उन्हें राष्ट्रपति नहीं एम्परर ऑफ फ्रांस कहा जाये. आपको आश्चर्य होगा कि जो गणतंत्र किसी भी तरह के राष्ट्रीयता के विरुद्ध है, वह गणतांत्रिक रूप से किसी भी चुने हुए व्यक्ति को सम्राट घोषित कर रहा है. अब आप बताइए कि यह लोकतांत्रिक है या अलोकतांत्रिक.

देखिए, ये जो जनतांत्रिक ढांचा है वह भी कितनी हिंसा कर सकता है. इस बात को समझिए. हमारे घरों में भी कितनी हिंसा हो रही है. स्त्रियों के प्रति घरों में क्या व्यवहार होता है? बच्चियों के प्रति क्या व्यवहार होता है? मैं अक्सर पूछता हूं कि अच्छे खासे घरों में बहन को दूध दिया जाता है क्या? अब सवाल यह है कि इन सारी हिंसाओं को सही कैसे ठहराया जाये? हम इनको जस्टीफाइड मानते हैं. इस तरह की हिंसा को हम कहते हैं विश्वास तंत्र. इसको सांस्कृतिक हिंसा कहा गया है.

अब सवाल यह उठता है कि हमारी विश्वास प्रणाली में कुछ चीज़ों को हम हिंसा मानते हैं या नहीं. बहुत से लोग इस बात को हिंसा नहीं मानते हैं कि राज्य आपके साथ क्या कर रहा है? संविधान

के हिसाब से कर रहा है या नहीं? कानून क्या कर रहा है? न्यायालय आपके साथ क्या कर रहा है? न्यायालय में जाने के लिए आपको कितना पैसा खर्च करना पड़ता है? वो क्या आपके प्रति हिंसा नहीं है. गरीब आदमी यह सब जानना चाहता है. हम सबने यह मान लिया कि उचित यही होगा. इसको जो वैधता मिलती है, जो औचित्य मिलता है, वह हमारी विश्वास प्रणाली से मिलता है. हमारी विश्वास प्रणाली यह कहती है कि स्त्री पुरुष से नीचे है. हमारी विश्वास प्रणाली यह कहती है कि मज़दूर मालिक से नीचे है. हमारी विश्वास प्रणाली मनुष्य मनुष्य में भेद पैदा करती है. वैसे तो मनुष्य मनुष्य बराबर है.

अगर मान लीजिए आप चपरासी को तुम कहते हैं तो वह मान्य है. किंतु चपरासी अफसर को तुम नहीं कह सकता. हमेशा आप ही कहेगा, क्यों? वह भी तो मनुष्य ही है आप उससे आप कहकर बात क्यों नहीं करते? आप किसी होटल में जाते हैं तो आप वेटर से आप कहकर बात क्यों नहीं कर सकते? हम ऐसा नहीं करते क्योंकि हम यह मानते हैं कि यही उचित है. क्योंकि यह हमारे विश्वास में जम गया है.

सवाल इस बात का उठता है कि ये सब हिंसा के रूप हैं– हमारी जैसी भी संस्कृति है. संस्कृति कोई मृत वस्तु नहीं होती है. यह जीवंत रूप है. यह लगातार गतिशील है. संस्कृति कोई जड़ चीज़ नहीं है. यह उसकी गतिशीलता है कि उसने हमें कहां लाकर रखा है. इसे भी समझने की ज़रूरत है. आपको क्यों 'गर्ल्स नॉट, ब्राइड मूवमेंट' चलाना पड़ता है? क्या ज़रूरत है इसकी? इसलिए चलाना पड़ता है कि हमने मान लिया कि गर्ल्स तो गर्ल्स है. वह ब्राइड होने के लिए ही होती है. इसलिए उन्हें उसी तरह से रखो, उसी तरह से प्रशिक्षण दो. खाना बनाना सिखा दो. यानी सब तरह से उन्हें तैयार कर दो. उनकी भूमिका यही है. ये जो भूमिका हमने तय कर दी और इसे हम उचित मानते हैं. कितने सारे मां-बाप हैं या दादा-दादी हैं जो यह मानते हैं कि लड़कियां इसके लिए नहीं हैं. हम स्वयं अपने घरों में क्या मानते हैं? बच्ची के बड़े होते ही चिंता होने लगती है. इसे जल्दी से घर से निकालो. हालांकि यह मज़ाक है, निकालने की बात नहीं कर रहे. परंतु तात्पर्य यही है.

दरअसल आप यह समझेंगे कि पूरी हिंसा के पीछे, विश्वास प्रणाली के पीछे 'पॉवर' की ललक काम कर रही है. चेतना के स्तर पर आपको नहीं लगता है कि पॉवर चाहता हूं. जो ऊपर है वह पॉवर में है और जो निम्न है वह पॉवरलैस है. उसके ऊपर हावी होकर, उसे प्रताड़ित करके, उसको अपमानित करके, उसके साथ बुरा व्यवहार करके अपनी पॉवर सिद्ध करते हैं. तभी आपको लगता है कि

मैं पॉवरफुल हूं. नहीं तो पॉवर का क्या मतलब है? पति, पत्नी को धमकी दे सकता है. पुलिस एक बेगुनाह को धमकी दे सकती है. ये सारी चीज़ें पॉवर में होने का अहसास है. यानी पॉवर वहां है जहां समानता के विपरीत है. असमानता तो पॉवर पैदा कर रहा है. एकरूपता तो कहीं होती नहीं है. शारीरिक रूप से तो समानता हो ही नहीं सकती क्योंकि सबके चेहरे अलग-अलग हैं. लेकिन वो समानता हमारे विचारों में, व्यवहार में, हमारी भावनाओं में, होनी चाहिए थी. वो न होकर असमानता इसलिए पैदा हुई क्योंकि हम पॉवर में रहना चाहते हैं. बहुत से मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि यह मनुष्य की रूहानी ज़रूरत है.

पॉवर में रहने से मनुष्य को अपनी सार्थकता महसूस होती है. तो हर आदमी किसी न किसी से प्रताड़ित होता है या किसी न किसो को प्रताड़ित करता है. यानी किसी के ऊपर कोई और. यह हमें रोज अपने दफ्तरों में और घरों में देखने को मिलता है. व्यक्ति अपने आपको पॉवर में महसूस करने के लिए ऐसा करता है. रेप भी अपने को पॉवर में महसूस करने का आजकल एक आसान तरीका हो गया है. इसके पीछे वास्तविक कारण सेक्स नहीं है. उसे तो आप किसी भी तरह पूरा कर सकते हैं. उसके पीछे कारण है अपने को देखना कि मैं कर सकता हूं. पॉवर जो है वह हिंसा है. इसीलिए गांधीजी 'नॉन पॉवर स्टेट' की बात करते थे. राज्य भी पॉवर का केंद्र नहीं है जो हम मानकर चलते हैं. दुनिया में अलग-अलग देशों में, अलग-अलग सभ्यताओं में अलग-अलग तरीके से विकसित होते रहे हैं.

पहले हमें इस बात को समझना चाहिए कि समानता के बिना हिंसा रहेगी. समानता हमारी विश्वास व्यवस्था में कितना महत्व रखती है? पॉवर को लेकर हमारे मन में क्या धारणाएं हैं? क्या पॉवर को हम एक स्वस्थ धारणा मानते हैं? या कि वो एक बीमार व्यक्ति की मानसिकता है? जो अपने को लगातार पॉवर में देखना चाहता है या अपने आपको सिद्ध करना चाहता है. ये सारी चीज़ें मुझे ऐसा लगता है कि मोटे तौर पर हिंसा है.

बहुत से लोग यह मानकर चलते हैं कि हिंसा तो मनुष्य का स्वभाव है. यह मानकर चला जाता है कि हिंसा तो मनुष्य हमेशा करेगा. क्या वह स्वभाव है? इस बारे में रिसर्च हुई हैं. शोध बताता है कि हिंसा मनुष्य में जन्मजात नहीं होती. उसमें हिंसक होने का सामर्थ्य तो है. उसमें पहल करने की प्रवृत्ति होती है. एग्रेशन दो प्रकार के होते हैं. एक पॉजिटिव एग्रेशन होता है और दूसरा मेलिग्रेंट (घातक) एग्रेशन. मेलिग्रेंट एग्रेशन हिंसा पैदा करता है. ये मनुष्य के स्वभाव का हिस्सा नहीं है. उसके लिए कई तरह से रिसर्च किये गये हैं. एक शोधकर्ता हैं– ब्रूस द बोन्ता,

मानवशास्त्री, उन्होंने ऐसी जनजातियों की खोज की है जहां कोई हिंसा नहीं है. यदि यह मनुष्य का स्वभाव है तो वहां भी होना चाहिए. कोई भी मनुष्य इससे बचा नहीं रह सकता. जेपी स्कॉट एक और वैज्ञानिक हैं उन्होंने भी इस क्षेत्र में काफी काम किया है. उनकी रिसर्च बताती है कि मनुष्य हिंसक हो सकता है, अगर बाहरी परिस्थितियां उस पर दबाव डालें. बाहरी परिस्थितियों में हम अपने परिवार में जो वातावरण है, सांस्कृतिक धारणाएं भी शामिल हैं. उस कारण से वो हिंसक हो सकता है. इसीलिए कहते हैं कि हिंसा हंगर और सेक्स की तरह अनिवार्य चीज़ नहीं है.

भूख और सेक्स एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है. हिंसा एक स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं है.

विज्ञान यह मानता है कि मनुष्य विकास की प्रक्रिया से पैदा हुआ है. उन्हें यह भी समझने की ज़रूरत है कि विकास एक प्राकृतिक कानून है. उसे यदि प्रकृति का सिद्धांत कहें तो उसका विकास 'रुक' नहीं सकता. इसका आशय यह हुआ कि मनुष्य विकसित प्राणी नहीं है. वह विकासशील प्राणी है. विकासशील प्राणी होने के नाते वह भविष्य में कितना विकास करता है, यह स्वयं उस पर निर्भर करेगा. समाज को, अपने को, व्यवस्था को, स्ट्रक्चरल को, विश्वास को, किस दिशा में ले जाना है. क्योंकि स्वाभाविक चुनाव की जो प्रक्रिया है, अब वह उससे नहीं गुजर रहा है.

मनुष्य होने से पहले तो 'नेचुरल प्रोसेस' काम करता है. लेकिन मनुष्य होने के बाद में उसमें चेतना, विचारने की क्षमता, तार्किक क्षमता आ गयी है. इसलिए अपने विकास की प्रक्रिया में हस्तक्षेप करने का सामर्थ्य आ जाता है लेकिन वह किस दिशा में करेगा? हम ऐसी परिस्थितियां बना सकते हैं जिनसे हम एक अहिंसक समाज की संरचना कर सकें. ❑

घर

वह बहुत देर से नक्शे को देख रहा था. आखिर उसने वह नदी खोज निकाली जो उसके घर के पास से बहती थी. फिर वह पहाड़ भी मिल गया जो उसके घर से दो-चार किलोमीटर दूर था.

यहां, इस जगह पर कहीं घर होना चाहिए, उसने नक्शे पर एक जगह कहीं पेंसिल की नोक रखी.

तभी उसे ध्यान आया, नक्शा जिस देश का था, वह तो वर्षों पहले खत्म हो चुका था!

– उदय प्रकाश

कागज़ की कश्ती

● सुबोध मिश्र

इस बार, बहुत दिनों के बाद ऐसा आकर्षक आमंत्रण प्राप्त हुआ था. पार्टी– वो भी फार्म हाउस में! कड़ी सर्दी होने के बावजूद, मेरा मन इस पार्टी में शामिल होने के लिए बेताब था इसलिए मैंने अपनी वह शाम पूरी तरह से खाली रखी थी और मैं अपनी आदत के विपरीत, ठीक समय पर फार्म हाउस जा पहुंचा था. जानकारों से मिलना हुआ, अनजानों से परिचय हुआ और पार्टी का वातावरण, धीरे-धीरे सम्मोहक होता चला गया.

मौसम का ध्यान रखते हुए, आयोजकों ने फार्महाउस के लम्बे-चौड़े लॉन में जगह–जगह अलाव सजाये हुए थे जिनमें जलती आग मौसम को सुहाना बनाये हुए थी. ज़्यादातर मेहमान इन्हीं अलावों के आसपास सिमटे हुए थे और अपने-अपने पारस्परिक अतीत के प्रखंडों को पुनर्जीवित कर ठहाके लगा रहे थे जिससे सारा वातावरण जीवंत हो उठा था. मैं उन्हीं मंडलियों में से एक से तनिक दूर, अपने एक बालसखा के साथ खड़ा, अपने अतीत के पन्ने उलट रहा था. पास में जमीं उस मंडली के बीच कुछ गम्भीर विषय पर वार्ता हो रही थी जो हमें स्पष्ट रूप से सुनाई दे रही थी. उनमें से कोई दृढ़ता पूर्वक कह रहा था–

'तुम मानते हो कि ईश्वर होता है... मैं नहीं मानता, जिसे मैंने देखा ही नहीं, उसे केवल कल्पना के आधार पर यथार्थ कैसे मान लूं...!'

थोड़ी देर सब चुप रहे जैसे उसकी बात का कोई सार्थक उत्तर ढूंढ़ रहे हों, तभी उनमें से कोई दूसरा बोला–

'तुमने कभी अपनी सांसों को देखा है?'

'सांस...! सांस को कैसे देख सकता है कोई... उसे देखा नहीं महसूस किया जा सकता है.'

'बस ऐसे ही.' दूसरे ने आगे कहा– 'ऐसे ही ईश्वर को महसूस करो... उसकी उपस्थिति का संज्ञान लो तो एक अलौकिक शक्ति का आभास होने लगेगा... बस यही ईश्वर है.'

संवाद तात्विक था और विवेचना के योग्य भी. सब ऐसे शांत थे जैसे कि वे सब किसी अलौकिक शक्ति का आभास

करने का प्रयास कर रहे हों. तभी उनमें से ही किसी ने बात आगे बढ़ायी–

‘लेकिन यह भ्रम भी तो हो सकता है...!’

‘हां बिल्कुल... भ्रम हो सकता है पर जीवन को सार्थक बनाने के लिए बहुधा भ्रम को ही आकार देना होता है... जीवन तभी जीवंत रहता है... दरअसल जीवन का आधार भ्रम ही है और जीने के लिए उससे समझौता करना ही पड़ता है.’

‘जैसे सच और झूठ के बीच समझौता, है न्...’

‘अब देखो, ज्ञानीजन कहते रहते हैं कि शरीर तो माटी है उससे मोह मत करो... पर सोचो कि क्या हम यह मान कर ज़िंदगी जी सकते हैं कि हमारा शरीर तो मात्र मिट्टी है! अगर ऐसा होता तो शायद हम सब आज यहां खुशी मनाने के लिए इकट्ठे न हुए होते... अगर देबू भी शरीर को माटी मान कर बैठ गया होता तो आज उसकी पत्नी इस दुनियां में नहीं होती.... और हम लोग भी... खुशियां नहीं, दुख मना रहे होते.’

‘ये तो सही कहा आपने...’ कोई और बोला– ‘देबू ने लाखों क्या करोड़ों खर्च कर डाले... यहां से अमरीका तक कितनी भाग-दौड़ की है उसने, तब जाकर भाभी ठीक हो पायी है...’

‘अरे, इसी को ज़िंदगी कहते हैं... कागज की कश्ती है... जब तक तैर सके... तैराओ...’

‘भाई हम पार्टी में आये हैं... सत्संग में नहीं... चीयर्स...!’

और इस संवाद ने उस रंगमंच को नयी पटकथा दे डाली पर मेरे मानस में उसी प्रसंग को पुनर्जीवित कर गया जो मेरे लिए अनंत प्रश्न चिह्न छोड़ गया है.

बात तब की है जब सामान्य अस्पताल के डॉक्टरों ने बड़े भाई को कैंसर अस्पताल ले जाने की सलाह दी थी. सुनते ही ऐसा लगा था जैसे अनगिनत केकड़े रेंगकर बदन पर आ चिपके हों. कर क्या सकते थे! हम ज़रूरी सामान समेट कर, कैंसर अस्पताल की ओर भागे.

कैंसर अस्पताल! घर और श्मशान के बीच का पड़ाव. हंसना तो दूर, यहां तो कोई मुस्कराता भी नज़र नहीं आता. हर चेहरा हताश, हर चेहरे पर ‘जीवनदान’ की याचना. वहां घुसते ही मन आतंकित-सा होने लगा था पर जीवन तो उम्मीद के सहारे ही जीवित रहता है और उसी के साथ हम भीतर चले गये.

अस्पताल काफी बड़ा था. बड़े भाई के लिए पांचवीं मंज़िल पर एक कमरा आबंटित कर दिया गया. मरीज को स्ट्रेचर पर लिटाकर अस्पताल का स्टाफ कमरे की ओर ले जाने लगा और हम लोग भी थके-थके से उसी ओर चल दिये. उस फ्लोर पर सारे कमरे ही थे, कोई वार्ड नहीं था. हर कमरे में, मरीज के साथ

एक तीमारदार के ठहरने की समुचित व्यवस्था थी. भाभी जी वहीं रुक गयीं. मुझे 'अटेंडेंट पास' दे दिया गया था जिससे मैं आवश्यकतानुसार मरीज के पास आ-जा सकूं.

अब मैं रोज ऑफिस से सीधा घर न जाकर, पहले अस्पताल जाने लगा था. डॉक्टरों से मिलना, ज़रूरी दवाइयां और अन्य चीज़ें लाकर कमरे में रखने के अतिरिक्त, शुभकामना प्रदर्शन के लिए आने वालों के मिलने की व्यवस्था करने आदि में ही मेरी हर शाम बीतने लगी.

मैं वहां घंटा-डेढ़ घंटा ही रुक पाता था और उसमें से भी ज़्यादातर समय मैं कमरे के बाहर ही, इधर-उधर घूम-घाम कर काटता रहता था क्योंकि, सच कहूं तो, कमरे के भीतर मैं अपने आपको ऋणात्मक चिंतन से त्रस्त अनुभव करने लगता था. कमरे के बाहर की बालकनी में लगी रेलिंग के सहारे खड़ा मैं, वहां आने-जाने वाले लोगों के चेहरों पर खिंची पीड़ा की रेखाओं को निहारता रहता था. हर कोई उदास–हर कोई हताश– कितना अजीब लगता है न! और एक बात और अजीब लगती थी. हमारे कमरे के ठीक सामने वाले कमरे का दरवाज़ा हमेशा ही बंद रहा करता था. वहां न तो किसी को कभी आते-जाते देखा और न ही कभी कोई तीमारदार दिखाई दिया. पर यह तो दिखाई देता था कि ड्यूटी पर तैनात डॉक्टर और नर्स उस कमरे में नियमानुसार आते-जाते थे. इसका मतलब, उस कमरे में कोई मरीज भर्ती तो था और जब वहां मरीज था तो कोई न कोई, कभी तो आता-जाता दिखाई देता! कौतूहल, जिज्ञासा और सहानुभूति मेरे मन को आलोड़ित करने लगे थे और कई बार मन करता था कि मैं खुद वहां जाकर देखूं कि वह कौन बदनसीब है जिसका उस भीषण काल में भी कोई साथी नहीं!

धीरे-धीरे, मेरे मन में जिज्ञासा इतनी बढ़ गयी कि एक दिन मैं, लगभग अवचेतन-सी अवस्था में, उस कमरे में जा घुसा. वहां मैंने जो देखा उसे देखकर वैसे तो चीख निकल पड़ना भी अस्वाभाविक नहीं होता पर मैं भौंचक्का ज़रूर रह गया. मेरी अब तक की जानकारी के अनुसार तो ऐसे रोग केवल बुढ़ापे में होते हैं पर यहां बिस्तर पर पड़ा कंकाल अब भी ऐसी त्वचा के आवरण में जीवित था जो इस बात की गवाही दे रही थी कि वह व्यक्ति, अभी कुछ दिन पहले तक, एक आकर्षक व्यक्तित्व का स्वामी रहा होगा. उसकी आयु मुझसे बस थोड़ी-सी ही ज़्यादा रही होगी. मेरी घबराहट बढ़ जाना स्वाभाविक था.

उसने मेरे आने की आहट सुन ली थी इसलिए उसने धीरे-धीरे आंखें खोली और मुझे पहचानने को कोशिश करने लगा. उसकी सुविधा को ध्यान में रखते हुए, मैंने जल्दी से उसे बता दिया कि मेरे बड़े

भाई भी वहीं, सामने के कमरे में भर्ती हैं. इस पर उसने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की और अपनी आंखें फिर से बंद कर लीं. मैं थोड़ी देर चुपचाप खड़ा उसे देखता रहा और फिर बाहर चला आया.

मैं चला तो आया पर मेरा मन मुझे लगातार यह अहसास कराता रहा कि मुझसे भूल हुई है. साधारणतया, जब कोई किसी मरीज़ से मिलने जाता है तो वह उससे सहानुभूति व्यक्त करता है, उसके शीघ्र स्वस्थ होने की कामना करता है और ज़रूरत पड़ने पर अपने उपलब्ध होने का आश्वासन भी देता है. पर मैंने तो इनमें से कोई औपचारिकता नहीं निभायी थी इसलिए मुझे अपना कल का व्यवहार उचित नहीं लग रहा था. बस इसीलिए, दूसरे दिन मैं फिर से उस कमरे में चला गया.

वह बिस्तर पर वैसे ही आंखें बंद किये लेटा हुआ था पर मुझे वह कल की अपेक्षा और अधिक कमज़ोर लगा. उसके चेहरे पर गहन पीड़ा से संघर्ष करने की रेखाएं स्पष्ट थीं लेकिन फिर भी मेरे आने की आहट सुन, उसने आंखें खोलीं और मेरी ओर देख कर मुस्कराया. मैंने घुसते ही पूछ दिया–

'कैसे हैं आप...?'

वह कुछ बोला नहीं, बस ऊपर की ओर कुछ ऐसे देखता रहा जैसे मेरे प्रश्न का उत्तर कहीं अनंत में ढूंढ़ने का प्रयास कर रहा हो. उसकी हालत देख कर मेरे
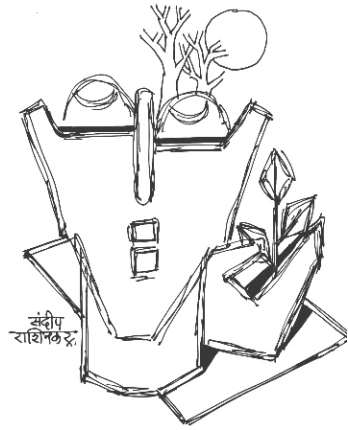
पैर अशक्त होने लगे थे इसलिए मैं पास में रखे स्टूल पर बैठ गया. इसके बाद कमरे में सन्नाटा छा गया.

थोड़ी देर यथास्थिति बनी रही पर उसकी हालत को देख कर मैं अपने आप को ज़्यादा देर तक रोक नहीं सका इसलिए सीधा सवाल कर बैठा–

'आपके साथ कोई 'अटेंडेंट' नहीं है...?'

'नहीं... कोई नहीं...' उसने एकदम सपाट सा उत्तर दे दिया. 'अब आगे क्या बोलूं,' मैं यही सोच रहा था, कि वह फिर बोल पड़ा–

'मेरी पत्नी है... दिन में आती है... दो घंटे के लिए... बच्ची है दो साल की... उसे क्रच में छोड़ती है... फिर आ पाती है...'

मेरे मुंह से अचानक ही 'ओह' निकल गया पर वह एकदम चुप रहा. मैं भी

औपचारिकता भूल कर एक करुणामयी सहानुभूति के घेरे में आ चुका था पर तभी कमरे में ड्यूटी डॉक्टर और नर्स आ गये. मैं बाहर जाने के लिए उठ खड़ा हुआ पर बाहर जाते-जाते, मैंने पूरी आत्मीयता से इन्सानी कर्त्तव्य निभाया–

'मैं तो रोज आता हूं... कोई काम हो तो मुझे बताएं... ठीक है...!' और यह कहते-कहते मैं बाहर निकल आया.

उसके बाद, दो दिन तक मैं उस ओर जा ही नहीं पाया. कई काम थे– उनमें उलझा रहा. तीसरे दिन मैं जब उस कमरे में गया तो मैंने उसे काफी बुरे हाल में पाया. उसने अधखुली आंखों से मुझे देखा था. मुझे लगा कि वह कुछ कहना चाह रहा है इसलिए मैं उसके और निकट चला गया. पास जा कर मैंने पाया कि वह लगभग अर्द्धचेतन अवस्था में बड़बड़ा रहा था–

'मैं उससे कहता हूं... ये कश्ती कागज़ की है... इसका भरोसा छोड़ दे... ढूंढ़... कोई... और सहारा ढूंढ़... अपने लिए... बेटी के लिए... मिट्टी से मोह न कर पगली...!'

उसकी आवाज़ में असहनीय पीड़ा थी. उसके सिर के नीचे लगा तकिया गीला हो उठा था.

अब मेरे से रहा नहीं गया सो मैं उसके और पास चला गया. मैंने उससे धीरे-से पूछा–

'कुछ चाहिए आपको... बताइए...!'

उसने अब अपनी आंखें पूरी खोलीं. वह मुझे एकटक देखे जा रहा था. अचानक उसने अपना जर्जर हाथ मेरी ओर बढ़ाने की कोशिश करते हुए कहा–

'मेरा एक काम करोगे...?'

'हां... हां... क्यों नहीं... बोलिए...!'

वह अत्यंत कराहते स्वर में, धीरे-धीरे बोला–

'मेरे बाद... मेरी पत्नी से ब्याह कर लेना...'

और उसका मेरी ओर बढ़ता हाथ, निर्जीव हो कर वापस बेड पर जा गिरा. उसकी गर्दन एक ओर लुढ़क गयी. मैं बहुत ज़ोर से चीख पड़ा.

मेरी चीख सुन कर अस्पताल का ड्यूटी स्टाफ दौड़ते हुए कमरे में घुस आया. नर्स ने मुझे बाहर जाने का इशारा किया. मैं बाहर जाते हुए भी, मुड़-मुड़ कर उसे ही देखे जा रहा था. मुझे ऐसा लग रहा था जैसे वह मेरे वचन की प्रतीक्षा कर रहा है.

मैं कमरे से बाहर तो आ गया पर मैं इस स्थिति में बिल्कुल नहीं था कि कुछ कदम भी आगे चल सकूं इसलिए मैं बालकनी की दीवार से पीठ सटाकर फर्श पर बैठ गया.

मेरी मानसिक स्थिति भी असामान्य सी होने लगी थी क्योंकि मैंने कुछ पल पहले ही ममता और मोह को मिट्टी होते देखा था. ❑

रात हमारी बात न माने

● डॉ. बुद्धिनाथ मिश्र

दिन बनकर हम क्या कर लेंगे
रात हमारी बात न माने.
उसकी ज़िद का क्या
जो घर की छाती पर ही तम्बू ताने!

जो धीवर को ही उतार दे
उस नौका की गति क्या होगी
बिना चिकित्सक की सलाह के
खाने लगा दवा है रोगी
सारी दुनिया लोहा माने,
लेकिन अपनी जात न माने.

बजता तो है सच सरोद-सा
लेकिन शोर झूठ का ज़्यादा
घुड़सवार के घोड़े से चिढ़
पत्थर मार रहा है प्यादा
संविधान के निर्देशों को
भूतों की बारात न माने.

एक कमासुत, सौ जाहिल हैं जहां,
वहां की बात जुदा है
टांग खींचनेवाले बंदों के
भीतर जज्बात जुदा हैं
संकट में संतों का आश्रम है,
जो दिन को रात न माने.

इंद्रधनुषी चट्टानें और भूत का पेड़

● अरुणेंद्र नाथ वर्मा

तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में चंदेला राजवंश के अनंगपाल और चंद्रपाल तोमर द्वारा निर्मित खजुराहो के मंदिर अपनी अद्‌भुत मिथुनमूर्तियों एवं भव्य वास्तुकला के कारण विश्वप्रसिद्ध हैं. दिल्ली-आगरा-खजुराहो के सुगम हवाई और रेल यात्रा त्रिकोण ने देशी-विदेशी सैलानियों के लिए आगरा, फतेहपुर सीकरी की जगत्प्रसिद्ध इमारतों के साथ-साथ खजुराहो के भव्य मंदिरों का पर्यटन भी बहुत सुलभ कर दिया है. लेकिन समुचित जानकारी के अभाव में मानवीय कृतियों के साथ-साथ प्राकृतिक सौंदर्य से भी लगाव रखने वाले सैलानी खजुराहो की अप्रतिम मिथुनमूर्तियों और मंदिर स्थापत्य पर केंद्रित तुरंता पर्यटन में उलझ कर इस क्षेत्र की नैसर्गिक सुंदरता से अपरिचित रह जाते हैं. कमज़ोर प्रचार-तंत्र के कारण पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों के प्राकृतिक सौंदर्य का आनंद लेने के लिए खजुराहो से केवल 30 किलोमीटर दूर केन नदी पर स्थित रानेह प्रपात तक जाने वाले सैलानियों की संख्या लगभग नगण्य है. भारत के अधिकांश जल प्रपात, चाहे सैलानियों का प्रिय जोग प्रपात हो या बस्तर का विशाल चित्रकूट झरना, बरसात के तीन महीनों में ही नयनाभिराम लग पाते हैं. लेकिन वर्षा ॠतु में जल-प्रवाह जिसका मुख्य आकर्षण हो और बरसात के बाद जल का अभाव जिसका सौंदर्य और भी निखार दे ऐसे रानेह

प्रपात का सौंदर्य अनूठा है.

यह झरना मध्यप्रदेश के छतरपुर जिले में पन्ना राष्ट्रीय उद्यान में केन नदी (प्राचीन नाम कर्णावती) के उस बिंदु पर है जहां अमेरिका के विश्वप्रसिद्ध ग्रैंड कैनियान के छोटे संस्करण जैसी गहरी घाटी (कैनियान) अठखेलियां करती केन नदी की राह में अचानक आ जाती है. फिर तो अपनी क्षणभंगुर समृद्धि के घमंड में उफनता केन का जल न आगा देखता है न पीछा, बस किसी युद्धोन्मत्त रणबांकुरे की तरह वह उन गहरी घाटियों में सौ फुट की ऊंचाई से कूद पड़ता है. आगे घाटी की संकरी ग्रीवा में अचानक बढ़ गयी जलराशि का प्रवाह रुक जाता है तो केन नदी ऊपर तक उस घाटी को लबालब भर देती है.
अमेरिका के ग्रैंड कैन्यान से तुलना में थोड़ी अतिश्योक्ति तो है क्योंकि रानेह की घाटी इतनी विशालकाय नहीं, लेकिन सुंदरता में वह उससे चार कदम आगे है अपनी एक विशिष्टता के कारण.

रानेह प्रपात का अनूठापन लाखों वर्ष पुरानी ग्रेनाईट चट्टानों से उपजता है. 5 किलोमीटर की लम्बाई में लगभग सौ फुट गहरे गह्वर की चट्टानें जब बरसात के दिनों में पानी में छुप जाती हैं तो उन पर नदी की असीम जलराशि हर-हर निनाद करती, हवा में उच्छ्वास छोड़ती गुज़र जाती है. लेकिन इन चट्टानों के सीने में गज़ब की निष्ठुरता है. उनमें कहीं ऐसा उर्वर छेद तक नहीं मिलता जिसमें घास या सिवार का नन्हा तृण भी पनप सके. यही वंध्यापन बरसात के बाद आने वाले सूखे मौसम में उन गह्वरों में असीम सौंदर्य भर देता है. फिर एक नयी सुंदरता फूट पड़ती है इन चट्टानों के इंद्रधनुषी रंगों के रूप में. विभिन्न रासायनिक लवणों की मौजूदगी इन चट्टानों को तरह-तरह के रंगों की आभा से सजा देती है. विविध रंगों की चट्टानों के नाम भी फरक-फरक हैं. काले आबनूसी रंग की बैसाल्ट शिला कहीं-कहीं हलकी ग्रे या सलेटी भी होती है. डोलोमाईट चट्टानें हरियाली आभा वाली होती हैं. भूरे या कत्थई रंग से शृंगार करती हैं क्वार्टज़ शिलाएं. पत्थरदिल होने के बावजूद प्रशंसकों की नज़रें अपने ऊपर गड़ी देख कर शर्म से लाल-गुलाबी हो जाने वाली शिला होती है ग्रेनाईट. इंद्रधनुष के सातों रंगों की खूबसूरती इन पांच रंगों वाली शिलाओं में ऐसे उतर आती है मानों धरती का शृंगार करने के लिए इंद्रधनुष आकाश से नीचे धरती पर उतर आया हो.

जिस मौसम की शुरूआत में खजुराहो के मंदिर-प्रांगणों में नृत्य महोत्सव का आयोजन होता है उन्हीं दिनों रानेह प्रपात का जल बरियारपुर बांध की तरफ मोड़ दिया जाता है. तब ये रंग-बिरंगी सूखी चट्टानें पूरे पांच किलोमीटर की दूरी में फैले हुए एक बेहद खूबसूरत गुलदस्ते जैसी लगती हैं. गह्वरों की बीस-तीस फुट से

लेकर सौ फुट तक ऊंची खड़ी दीवारों के बीच छोटे-छोटे कुंडों में बचा रह गया जल आगंतुकों की पहुंच से बाहर रहने के कारण निर्मल बना रहता है. चट्टानों के रंगों को प्रतिबिम्बित करते हुए छोटे-बड़े कुंड पूरे माहौल को रंगीन बना देते हैं.

रानेह प्रपात से कुछ दूर ही पांडव प्रपात भी है जिसकी प्रतिष्ठा उस गहरे कुंड से है जिसमें ऊंचाई से गिरा जल इकट्ठा हो जाता है. कुंड के सामने बड़ी-सी शिलाओं में बनी हुई गुफा में पांडवों के आश्रय लेने की जनश्रुति है. पांडव एवं रानेह प्रपात के निकट विशाल पन्ना राष्ट्रीय उद्यान में चीतल, हिरन, नीलगाय, साम्भर, बनैले सूअर आदि से लेकर बाघ तक अपनी उपस्थिति दर्ज कराते हैं. लेकिन इन वन्यजीवों से कम अनूठे नहीं हैं इस क्षेत्र के पेड़-पौधे और वनस्पतियां. वन विभाग के नियमानुसार पर्यटकों को वनक्षेत्र में अपने साथ गाइड लेकर जाना अनिवार्य है. गाइड का काम करने वाले स्थानीय युवक अपने क्षेत्र की वनसम्पदा से केवल भली भांति परिचित ही नहीं हैं, वे उनसे गहरा लगाव भी महसूस करते हैं. काम चलाऊ अंग्रेज़ी बोलने में समर्थ ये स्थानीय युवक सभी पेड़-पौधों के वैज्ञानिक नाम से लेकर उनके विषय में विस्तृत वैज्ञानिक जानकारी भी रखते हैं.

अपने गाइड की बदौलत हमें चारों तरफ फैले हुए ऐसे पेड़-पौधों का परिचय मिला जिनके नाम तो सुन रखे थे लेकिन जिनको प्रत्यक्ष देखने का अवसर पहले नहीं मिला था. खैर के पेड़ को ही लीजिए. पान में जिस कत्थे के उपयोग से हम खूब परिचित हैं उसका पंद्रह फुट ऊंचा सेंगेलिया कटेचू वैज्ञानिक नाम वाला पेड़ कितने लोगों ने देखा है? खैर की भूरी लकड़ी में घुन नहीं लगता, भले वह सड़ जाए. भारत के अतिरिक्त नेपाल, श्रीलंका, भूटान, म्यांमार आदि देशों में उगने वाले खैर या कत्थे की लकड़ी को पानी में उबाल कर उसके रस को जमा दिया जाता है फिर वह चूने के साथ मिलकर पान के शौकीनों के होंठ लाल करता है. गोंद पैदा करने वाले पेड़ों के तने में चीरा लगाकर उनका स्राव इकठ्ठा किया जाता है जो सूखकर भूरा रंग और कड़ा चिपचिपा रूप पाने के बाद तरह-तरह से इस्तेमाल किया जाता है. आयुर्वेदिक दवाओं में गोली या वटी बांधने के लिए सहजन, पीपल, अर्जुन आदि के गोंद का प्रयोग होता है तो नीम, पलाश, आम, सेमल और बबूल के गोंद के भी तमाम उपयोग हैं. ग्वार की फली से मिलने वाले ग्वारगम का उपयोग आइसक्रीम बनाने में होता है. हींग भी एक तरह की गोंद ही है जो फेरुलाकुल या अम्बेलीफेरी पौधे की जड़ों से निकलने वाला रेजिन है. इन पौधों की गाजर जैसी जड़ों में चीरा लगाकर इकठ्ठा किये गये रस को महीने भर तक धूप में सुखाया जाता है तब उनमें हींग का स्वाद, रंग और रूप आता है.

इतने सारे स्वरूपों में पाये जाने वाले गोंद उत्पन्न करने वाले पेड़-पौधों को देखने का अवसर अन्यत्र दुर्लभ है. कम बारिश वाले इस क्षेत्र में अनायास उग आने वाले पेड़-पौधों में अत्यंत महत्वपूर्ण पेड़ है गुग्गुल. इस झाड़ीनुमा पेड़ के तने और शाखाओं से मिलने वाले गोंद का सुगंधित धूप और अगरबत्ती बनाने में उपयोग होता है. लगता है यहां कोई भी पेड़-पौधा ऐसा नहीं है जो अपनी विशिष्टता के कारण बेहद उपयोगी न हो. इस क्रम में अगला महत्वपूर्ण पेड़ है करधई. मध्यप्रदेश, राजस्थान आदि में फैली अरावली पर्वत शृंखला की पथरीली ज़मीन पर अनायास ही उग आने वाले करधई के पेड़ की पत्तियां जब भूरी-लाल होकर पतझड़ के मौसम में गिरने लगती हैं तब उसके तने की सख्त और मज़बूत लकड़ी बंदूक के कुंदे बनाने के काम आती है.

पन्ना राष्ट्रीय उद्यान का शायद सबसे अद्‌भुत पेड़ वह है जिसका स्थानीय नाम है भूतिया या भूत का पेड़ और वैज्ञानिक नाम है स्टरक्युलिआ युरेंस. यह पेड़ जन्मजात भारतीय है और मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र राज्यों में पाया जाता है. अगर भूत नाम से लगे कि मर कर भी यह पेड़ मरता नहीं तो अनुमान सही होगा. भीषण सूखे का सामना करने के लिए ग्रीष्म ऋतु में अपनी सारी पत्तियां गिराकर, अपने तने को सूखी सफ़ेद पपड़ियों से ढक कर, यह पेड़ कंकाल जैसा भेष बनाकर पूरे छह महीने तक मौत को चकमा देता रहता है. फिर जब इसके दुराग्रह से तंग मौत इसे छोड़ कर आगे बढ़ जाती है तो यह उल्लास से बढ़कर पचास फुट तक की ऊंचाई पा लेता है. इसकी शाखाएं फैल जाती हैं और उन पर हरीतिमा लिये पीले फूलों के गुच्छे लटकने लगते हैं. भूत भले कहा जाये पर चुड़ैल होने से भी उसे परहेज़ नहीं. अतः उसपर नर और मादा दोनों तरह के फूल उगते हैं. बड़े-बड़े गुच्छों में लटके हुए ये फूल रात की निर्जनता में दूर से देखने पर पेड़ से लटकाये हुए नरमुंडों जैसे लगते हैं. फिर चांदनी में चमकता हुआ इसका श्वेत तना सफ़ेद चादर में लिपटे प्रेत जैसा लगे तो आश्चर्य
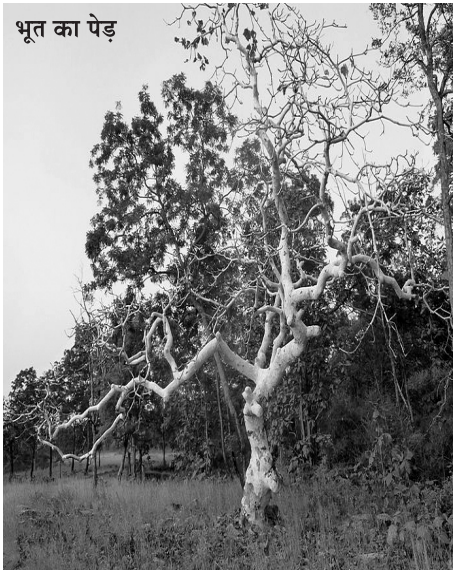
भूत का पेड़

क्या. भोले-भाले ग्रामीणों को और भी आतंकित कर देने वाला माहौल बना देने में सहायक होते हैं इसके फूल पर उभरे रेशे जो कांटों की तरह इंसान की त्वचा को डंक मारने की अनुभूति देते हैं. इस आतंकी स्वरूप से ही तो उत्पन्न हुआ है इसका देशज नाम– भूत का पेड़. जब फूल फल बन कर लाल-भूरे रेशों से ढंक जाते हैं तो गर्मी से चिटक कर ऐसे फटते हैं जैसे चिता पर रखे शव की कपाल क्रिया की जा रही हो. फिर हर फल से छह सात बड़े-बड़े चौकोर भूरे-काले बीज सूखी पथरीली ज़मीन पर बिखर जाते हैं– भूतों की अगली पीढ़ी को जन्म देने के लिए जो सूखी पथरीली भूमि में चांदनी रातों को रहस्यमय-रोमांचक बनाने के उद्यम को जारी रखेंगी.

खजुराहो की मूर्तियों में जीवंत अप्सराओं और क्रीड़ारत किन्नरों के सौंदर्य से अभिभूत जो सैलानी वहां से केवल पैंतीस-चालीस किलोमीटर दूर रानेह और पांडव प्रपात और पन्ना वनक्षेत्र में भूत के पेड़ एवं अन्य अनूठी वनसम्पदा भी देखने आते हैं. इन्हें देखे बिना खजुराहो पर्यटन अधूरा होगा! ❑

अमूर्त कला

एकबार राष्ट्रपति जैलसिंह भोपाल स्थित 'भारत भवन' में कला-प्रदर्शनी देखने गये. तब जो हुआ उसकी एक झांकी 'भारत भवन' की कल्पना साकार करने वाले अशोक वाजपेयी ने दिखायी है : राष्ट्रपति जैलसिंह जब आये तो राज्यपाल, मुख्यमंत्री, हम सब उनके साथ थे. जैसे ही वे 'रूपकर' की शहराती दीर्घा में घुसे तो उनकी नज़र आबादास की बेहद अमूर्त कलाकृति पर पड़ी. वे स्वामीनाथन की तरफ मुखातिब होकर बोले, 'डायरेक्टर साहब, ये पेंटिंग खेत की बात कर रही है या बलिदान की, समझ तो आनी चाहिए.' स्वामी ने तपाक से कहा, 'राष्ट्रपति जी, ये पेंटिंग किसी के बारे में नहीं है, यह बस खुद है'. इस पर राष्ट्रपति की प्रतिक्रिया थी, 'बात आपने बड़ी दूरंदेशी की कही, पर समझ तो आनी चाहिए.' आगे राष्ट्रपति बोले, 'आपको कोई आर्ट एप्रिसिएशन का कोर्स चलाना चाहिए.' स्वामी बोले, 'हम ने योजना बनायी है.' राष्ट्रपति ने कहा, 'हमें खबर करियेगा, तो हम आयेंगे.' सब हंस पड़े. इसी बीच राज्यपाल को आगे लगा एक चित्र भा गया और वे राष्ट्रपति को वहां ले गये. चित्र स्वामी का बनाया था. राष्ट्रपति जी को भी पसंद आ गया. वे बोले, 'हां, यह अच्छा है, कुछ समझ में आता है.' इसपर स्वामी ने कहा, 'राष्ट्रपति जी, चित्र बनाया तो मैंने है, पर मुझे समझ नहीं आता.'

इस पर सब हंसने लगे. राष्ट्रपति जी भी.

मोड़ दो पथ

● नर्मदा प्रसाद उपाध्याय

सुख और दुख की कितनी परिभाषाएं हैं? क्या है सुख और दुख? दुख जंगल और सुख उपवन. जंगल तो स्वत: उगा हुआ है, उसे संघर्ष के हाथों से साफ करते-करते खुली भूमि निकल आती है जिस पर रोपे गये सुविधा के सुकुमार पौधे बड़े होकर सुख के वृक्ष बन जाते हैं. लेकिन जब हम इन सुख के वृक्षों से भरपूर उपवन में रहने लगते हैं तो जंगल की बड़ी याद आती है. यह याद, यह स्मृति, समय का सच है. एक समय आता है जब जीवन इन्हीं स्मृतियों के बीच विराम पाकर स्वयं स्मृति बन जाता है.

मगर सच यह भी है कि हम जिसे उपवन समझते हैं वे किन्हीं औरों के लिए जंगल हैं. दुनिया में एक से एक सम्पन्न हैं जिनके लिए हमारी जैसी सुविधाएं हेय हैं, अपर्याप्त हैं, इसलिए उन्हें अभी भी उपवनों की तलाश है. सच यही है कि उपवनों की चाह कभी समाप्त नहीं होती. आज तो अनेक संन्यासी भी उपवनों में बैठकर जंगलों में तपस्या करने की मुद्राएं रच रहे हैं. लेकिन इस महादेश में कभी ऐसा समय भी था जब सच्चे संन्यासी उपवनों को छोड़कर जंगलों की ओर चल पड़े थे. वे राजा थे, राम, महावीर और बुद्ध. उन्होंने वह रास्ता चुन लिया था जो सांसारिक भाषा में उल्टा रास्ता था. उन्होंने उपवनों को छोड़कर जंगलों के पथ चुन लिये थे. कालीनों को त्यागकर कांटों को और पुष्पों को छोड़कर पाषाणों को अपना सहचर बना लिया था. उनकी यात्रा अनंत थी, उनका मार्गदर्शक उनका निश्चय था.

क्या कारण था कि वे उपवनों को त्यागकर जंगलों की ओर चल पड़े थे? आम धारणा है कि ऐसा वनगमन लोकमंगल के लिए किया गया. उन्होंने यह रास्ता समूचे लोक के कल्याण के लिए चुना ताकि लोक अपना सच्चा मार्ग चुन सके. मगर सच यह है कि ये सब अपने आत्ममंगल के लिए उपवन से वन की ओर, जंगल की ओर गये थे. यह अलग और बाद की बात है कि इनके मंगल में लोक ने अपने मंगल को देख लिया. उसी पथ पर अपने पांव रख दिये जो पथ इन राजाओं ने अपने लिए चुन लिये थे.

राम जब वन-गमन से पहले कैकेयी

के पास जाते हैं, तो कहते हैं– 'मुनिगन मिलनु विसेषि वन सबहि भांति हित मोर'– अर्थात मैं जब वन जाऊंगा तो विशेष रूप से सब मुनियों से मिलूंगा जिसमें मेरा सभी प्रकार से कल्याण है.

बुद्ध कहते हैं, 'अप्पो दीप भव', अपने दीपक खुद बनो. सब अनुयायी उनका साथ छोड़ जाते हैं, वे निपट अकेले रह जाते हैं. ध्यानमग्न और तब तक तपस्यारत रहते हैं जब तक उन्हें आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता. अकेले बोधिवृक्ष के नीचे सुजाता के हाथों बनी खीर खाते आत्मज्ञानी बुद्ध के चेहरे पर खेलता तृप्ति का स्मित उनके आत्ममंगल का प्रतीक है.

और महावीर की देशना का सार है–

जे एगं जाणइ से सव्व जाणइ
जे सव्व जाणइ से एकं जाणइ

जो एक को जानता है वह सब को जानता है और जो सब को जानता है वह एक को भी जानता है. यही सम्यक ज्ञान है. महावीर के त्रिरत्न और बुद्ध के चार आर्य सत्य, पहले उनके स्वयं के हैं.

इस तरह इन राजसी व्यक्तित्वों ने आत्ममंगल से लोकमंगल को रच दिया और ऐसा रचा कि इस विराट रचाव की कथा हमारे सांस्कृतिक वैविध्य और वैराट्य की महागाथा बन गयी.

भारतीय संस्कृति की अस्मिता को उपवन से वन की ओर चल देने वाले इन्हीं राजसी व्यक्तित्वों ने रचा है. वास्तव में भारतीय संस्कृति आरण्यक संस्कृति ही है. उसका जन्म वन में ही हुआ. इसलिए जब राम, महावीर और बुद्ध अपने राज्यों को त्यागकर वन की ओर गये तो उनकी यात्रा में यही संदेश निहित था कि वे अपने उत्स की ओर, स्रोत की ओर लौट रहे हैं.

वे अपने उत्स में समाकर फिर प्रवाह बन गये जबकि समझ यह लिया गया कि वे प्रवाह नहीं सागर हैं.

सागर और प्रवाह में अंतर है. सागर की लहरें चाहे कितनी ही ऊंची उठें लेकिन उनके ऊंचे उठने से सागर प्रवहमान नहीं होता, वह स्थिर ही बना रहता है. सीमाओं में बंधे रहना उसकी नियति होती है लेकिन प्रवाह गतिमान होता है. स्थिरता उसका संस्कार नहीं है. उसकी सतह पर भले उत्ताल तरंगें नृत्य न करती हों लेकिन उसकी गतिशीलता, उसके सामर्थ्य के सौष्ठव को प्रदर्शित करती हैं.

परिवर्तन लहरें नहीं लातीं, प्रवाह लाता है. लहरें सागर के वक्ष पर अपने भव्य शिल्प से सजकर चाहे जितनी अट्टालिकाएं खड़ी कर लें, वे प्रवाह की तरह बंजर धरती की सतह को उर्वर बनाकर उसके भाग्य को नहीं बदल सकतीं.

राम, महावीर और बुद्ध ने अपने युगों को परिवर्तित किया था, अपने समय की सीमाओं को नया आकार देकर उनके भूगोल को बदला था जिसके कारण इतिहास की भंगिमा बदल गयी.

भारतीय संस्कृति की यात्रा का संदेश भी यही है कि वह जिस पथ पर सम्पन्न होती है वह राजपथ नहीं रहता, लोकपथ हो जाता है और परिवर्तन लोकपथ की यह यात्रा ही लाती है. लोकपथ उपवनों में नहीं होते वे तो अरण्यों की, वनों की निधि होते हैं. वे राजा चले तो राजपथ पर लेकिन फिर ये राजपथ लोकपथ हो गये क्योंकि उनके पांवों ने पथों की दिशा बदल दी, उन्हें लोक की ओर मोड़ दिया. लोक के ये रास्ते सुगम नहीं थे लेकिन सरस थे. सुख और दुख दोनों के रस से भरपूर. जबकि राजपथ सरस नहीं होते. ओढ़ी हुई शालीनता और बंधी हुई मर्यादा उन्हें शुष्क बना देती है. ऐसे राजपथों पर सजावट की चकाचौंध तो दिखाई देती है लेकिन नैसर्गिकता की दीप्ति से वे वंचित रहते हैं. इन राजपुरुषों ने जिन पथों को चुना वे पथ नैसर्गिकता की दीप्ति से जगमगाने वाले पथ थे क्योंकि उनकी दिशा लोकोन्मुखी थी.

आज ये लोकोन्मुखी पथ कहीं कुहासे में खो गये हैं. ये दिखाई नहीं दे रहे. जो पथ दिखाई दे रहे हैं वे राजपथ ही हैं जिन्हें लोकपथ कहा जा रहा है. कुहासे की चादर से ढंके ये लोकपथ कैसे इस कुहासे की चादर से मुक्त हो सकें, वे कैसे दिखाई देने लगें और लोकपथ का भ्रम देने वाले ये राजपथ कैसे ध्वस्त हों आज का यक्ष प्रश्न यही है. इसका उत्तर भी लोक की सामर्थ्य में ही विद्यमान है और वह तब मिलेगा जब पांव इतने सबल होंगे कि वे पथों को मोड़ सकें.

राम, महावीर और बुद्ध की यही सीख है कि यदि पांवों को सही दिशा में मोड़ दो तो इन पांवों में इतनी सामर्थ्य भी होती है कि वे पथों को मोड़ सकें– शर्त सिर्फ पांवों के दृढ़ और गतिशील होने की है.

निर्बल और स्थिर पांवों से पथ नहीं मुड़ा करते. ❑

किंकर्तव्यविमूढ़

जब और जहां धर्म के आध्यात्मिक आडम्बर में मनुष्य और उसके मूल्यों के स्थान पर आध्यात्मिक चमत्कारवाद और जड़ देवत्व की प्रतिष्ठा होती है, तब ऐसा धर्म समाज की गति और उसकी क्षमता को कण्ठित और अवरुद्ध करता है. इस धर्म-प्राण भारत-भूमि में जन्म लेने के लिए देवता लालाचित हो सकते हैं, पर मेरा जैसा केवल मनुष्य बने रहने के प्रयत्न में लगा व्यक्ति इस पावन-भूमि में जन्म लेकर किंकर्तव्यविमूढ़ है. **– रघुवंश**

एक सपना जो अधूरा रहा

● रमेश थानवी

आज़ादी का आंदोलन चल रहा था और बापू एक सपना देख रहे थे. सपना देखने से पहले वो पूरा देश घूम-घूम कर देख चुके थे. आंखों देखे देश में गरीबी, शोषण, बीमारी, अकाल, बेरोजगारी और प्राकृतिक आपदाओं की इस पार से उस पार तक फैली हुई एक विकराल छवि थी. हृदय-विदारक. ऐसी विकराल छवि देखकर उनकी आंखों में एक सपना तैरने लगा था. मन में एक संकल्प भी जागा था. उस संकल्प में सपने की रूपरेखा बन रही थी. उस सपने को वे अपने आंदोलन के साथ-साथ तराश रहे थे. मन ही मन उसको सींच रहे थे. सोच रहे थे कि आज़ादी पाने के बाद हम तुरंत राष्ट्र और समाज के नव निर्माण में लग जायेंगे.

इस नव निर्माण में बापू के साथ देश की अस्मिता अंगड़ाई ले रही थी. हज़ारों वर्षों से चली आ रही पुरानी अस्मिता फिर से ज़िंदा हो रही थी. सपना यह था कि बापू भारत को भारत बनाना चाहते थे. हिंद को हिंद बनाना चाहते थे. उसमें से वक्त के साथ जो सड़-गल गया था उसे नव-निर्माण से विलग कर देना चाहते थे. पूरी तरह से छोड़ देना चाहते थे. जो छोड़ना चाहते थे वह पाखंड था. पंडों का पाखंड. रीति-रिवाज़ थे. रस्में थीं. अंध-विश्वास थे. सदियों से आदमी के पांव की बेड़ियां बनी पुरातन रूढ़ियां थीं. इन सबसे आज़ादी दिलाकर बापू सर्वथा स्वाधीन और स्वतंत्र मुल्क बनाना चाहते थे. वे समाज के सर्वांगीण विकास की सम्पूर्ण दिशा बदल देना चाहते थे. शिक्षा, खेती, उद्योग, पर्यावरण और पूरे समाज का ताना-बाना सब कुछ समाहित था इस सपने में. वे इस नव निर्माण में पूरे देश को साथ लेना चाहते थे इसलिए वे बार-बार अपनी हर प्रार्थना सभा में उन मूल्यों का उल्लेख करते थे जिनको हमारे नये समाज की नींव बनना था. उस नींव का शिलान्यास उनके मन में तो हो चुका था. उनका जीवन ही उस शिलान्यास का प्रमाण था. जीवन की हर कथा उस शिलान्यास की एक शाखा-प्रशाखा को प्रतीकित करती थी.

अपने उस सपने को सच करने के लिए बापू ने सवा सौ वर्ष तक जीने का संकेत तक दे दिया था. यह संकेत राम नाम में उनके अडिग और अटूट विश्वास पर आधारित था. उन्होंने कहा था कि मेरे

श्वास-प्रश्वास में राम नाम है और यह राम नाम रामबाण दवा है. जो व्यक्ति अपनी सांस में राम नाम को साध ले उसे कोई रोग छू भी नहीं सकता. बापू भी राम नाम के सहारे रोग मुक्त रहते थे. ऐसे ही विश्वास के साथ बापू ने कहा था कि अगर मैं सवा सौ वर्ष ज़िंदा न रहूं तो कहना कि यह आदमी राम नाम नहीं लेता था. मगर यह क्या हुआ कि न वे रहे न उनका सपना रहा! सपना अधूरा ही रहा. क्यों हुआ ऐसा? कौन उत्तर दे?

आज हम जिस मुकाम पर खड़े हैं वहां वह सपना फिर याद आ रहा है. याद यह भी आ रहा है कि महात्मा जी ने आज़ादी के साथ अमन को सर्वोच्च महत्व दिया था. वे जिस शांति के उपासक थे वह शांति कभी राग, द्वेष और क्षुद्र स्वार्थों से नहीं पायी जा सकती थी. परस्पर भाईचारा और सर्वधर्म समभाव ही उस अमन की स्थापना कर सकता था. यह सर्वधर्म समभाव उनको भारतीय संस्कृति से विरासत में मिला था. हमारे शास्त्रों से, वेदों से और उपनिषदों से. हम साथ होने की प्रार्थना करते थे– सहनाववतु. हम साथ-साथ जीने और बलवान बनने की कल्पना करते थे. मानवीय अस्मिता का तेज हमारा लक्ष्य हुआ करता था. तेजस्वि नावधीत्मस्तु. मगर सबसे बड़ी बात यह है कि हमारी प्रार्थना में द्वेष वर्जित होता था. वह वर्जना बापू ने अपना ली थी और एक सपना देखने लगे थे कि इस देश में कोई भी

किसी से द्वेष नहीं करेगा. ऐसा सपना यदि साकार हो गया होता तो आज हम कहां होते!

बापू के मन में कुदरत के ज़र्रे-ज़र्रे के प्रति अपार प्रेम था, आदर था और किसी भी कण के अपव्यय में वे अल्लाह मियां की तौहीन समझते थे. यही कारण था कि उनकी हर प्रार्थना सभा में ईशावास्य उपनिषद के पहले श्लोक को प्रार्थना की तरह प्रतिदिन दोहराया जाता था. कुदरत के प्रति अगाध श्रद्धा एवं प्रेम के सहारे वे पूरी धरती की चिंता करते थे. उन्हें त्रिकालदर्शी की तरह तभी यह खतरा दिखाई दे गया था कि एक दिन यह मां वसुंधरा जो सब कुछ देती है वही हमारी कृपा दृष्टि की मोहताज हो जायेगी. उन्होंने कहा था कि– 'यह धरती सभी प्राणियों की ज़रूरतों को तो पूरा कर सकती है मगर एक भी आदमी के लालच की यह पूर्ति नहीं कर सकती.'

उन्हें वनस्पतियों की भी चिंता थी और हमारे ग्रह नक्षत्रों के साथ सम्पूर्ण ब्रह्मांड की भी. बहुत व्यापक फलक था बापू के सपने का. मगर वह सब आज धराशायी हो गया. आज फिर से हमें अपने से ही पूछना है कि हम कहां जाना चाहते हैं? महात्माजी के मार्ग पर या कि उद्योगपतियों, पूंजीपतियों और सरमायेदारों के दिखाये

रास्तों पर?

महात्माजी ने जान लिया था कि पूंजी कभी मानवीय विकास की आधारशिला नहीं बन सकती. उन्होंने यह भी जान लिया था कि पैसे या सम्पत्ति का लोभ हमें कहीं नहीं ले जा सकता. मानवता के व्यापक फलक के बारे में चिंतित रहते थे महात्मा जी. उनके सामने इंसानियत को बचाने की, बचपन को बचाने की, कुदरत को बचाने की आदि कई चिंताएं थीं. स्वावलम्बन और उसके लिए शारीरिक श्रम उनके सामने एक आवश्यक मूल्य के रूप में उभरा था. इन मूल्यों में वे तमाम एकादश व्रत शामिल थे जिनकी वे रोज प्रार्थना किया करते थे :–

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह
शरीरश्रम, अस्वाद, सर्वत्र भयवर्जन
सर्वधर्म-समानत्व, स्वदेशी, स्पर्शभावना
विनम्र व्रतनिष्ठासे ये एकादश सेव्य है

उक्त ग्यारह मानवीय मूल्यों के पोषण में ही उन्हें समाज का वास्तविक विकास नज़र आता था. ऐसे विकास में परस्पर प्रेम और भाईचारे के साथ समाज में पूर्ण शांति की स्थापना की जा सकती थी ऐसा ही उनका विश्वास था. इन मूल्यों पर खड़ा समाज और इन मूल्यों का पग-पग पर पोषण करने वाला समाज बनाना ही उनका सपना था.

इस सपने में शामिल था समाज का नव निर्माण. समाज का नव निर्माण उनकी नजर में शिक्षा के नवोन्मेष पर टिका था. यही वजह थी कि उन्होंने बुनियादी शिक्षा की नींव रखी थी और वही फिर नयी तालीम भी कहलायी. सपना यह भी था कि शिक्षा के मार्फत आज़ादी की जड़ों को सींचेंगे और देश में सच्चे लोकतंत्र की स्थापना करेंगे. इतना सुदृढ़ करेंगे आज़ादी को कि फिर कभी कोई भारत को गुलाम बनाने का सोच तक नहीं सकेगा.

उनका विश्वास था कि अगर समाज ने मूल्यों को जीना सीख लिया और उससे भाईचारा निरंतर पुष्ट होता गया तो यह समाज कबीर की तरह प्रेम करने वालों का समाज बन जायेगा. कबीर को भी प्रेम के ढाई आखर ही दिखाई दिये थे. पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ.. इस सच को कबीर ने जान लिया था. महात्मा जी को भी यही सच सार के रूप में दिखाई दिया था.

प्रेम को सार के रूप में और सत्य के रूप में जान लेने के बाद बापू शिक्षा को सत्यान्वेषण के मार्ग पर चलाना चाहते थे. सत्य उनके लिए बहुत बड़ा मूल्य था और मानवता को सत्यनिष्ठ बनाना उनकी नज़रों में शिक्षा का बड़ा काम था. उनके लिए प्रारम्भिक दिनों में तो ईश्वर सत्य था मगर आखिरी दिनों में उन्होंने यह अनुभव कर लिया था कि सत्य ही ईश्वर है. सत्य को इतने ऊंचे स्थान पर प्रतिष्ठित कर देना महात्मा जी के लिए एक बड़ा सपना था. आज अगर समाज सत्य निष्ठ होता तो

सारी बुराइयां दफन हो जातीं. न भ्रष्टाचार होता, न हिंसा होती, न नफरत होती, न ईर्ष्या होती, न द्वेष होता, न लोभ लालच होता, न किसी को अपनी तिजोरियां भरने की दरकार होती. न भूख होती, न गरीबी होती, न लोग निर्वस्त्र होते और न किसी को किसी का डर होता. समाज पूरा निर्भय होता, निडर होता और एक दूसरे के जीवन में अपना सहयोग देने को आतुर होता. यह सब एक सपने की बात थी. महात्मा जी ने इस सपने को जी कर दिखाया था. उनके मार्ग पर चले होते तो आज यह सपना सच होता, मगर वह अधूरा रह गया और आज भी अधूरा है.

यह कैसा दुर्भाग्य है कि देश को आज़ादी दिलाने वाला आदमी आज़ादी के सात महीने भी नहीं जी सका. वह स्वयं तो अपने शरीर से मुक्त हो गया, मगर पूरा देश अनाथ हो गया.

इस अधूरे सपने के साथ आज समूचा देश पंगु बन कर खड़ा है. दिव्यांग है सारा समाज. अंग-उपांग सब लड़खड़ा रहे हैं. बैसाखियां बेचने वाले और बनाने वाले भी नदारद हो गये हैं. महात्मा जी को जीने न देने वाले लोग तमाशबीन होकर देख रहे हैं. यह कैसा दुर्भाग्य है कि देश को आज़ादी दिलाने वाला आदमी आज़ादी के सात महीने भी नहीं जी सका. वह स्वयं तो अपने शरीर से मुक्त हो गया, मगर पूरा देश अनाथ हो गया. अब हमको डंके की चोट पर यह कहते हुए भी शर्म नहीं आती है कि देश में अशांति है, भुखमरी है, नफरत है, दिलों में आग है और दिमागों में हिंसा है. काश! हम यह भी कह देते कि हमारी अस्मिता ही आज अपाहिज और अनाथ है. मगर हमारी आस्था आज भी गोली पर है, हिंसा पर है और हिंसक लोगों को महिमा-मंडित करने में हम अघाते नहीं हैं. हमारी बेनूरी का आलम तो यह है कि हम चिथड़ों से बने पुतलों को भी गोली मारकर सरे आम अपने दिवालियेपन का प्रदर्शन करते हैं. पुतलों के नीचे लिपटे होते हैं लालरंग से भरे गुब्बारे और फूल कर कुप्पा हो जाते हैं कि हमने फिर महात्मा के पुतले को गोली मारी. यह सब इसलिए सम्भव हुआ कि महात्मा का सपना अधूरा रह गया. उस सपने को हमने पूरा होने नहीं दिया. तब किसी ने लिखा कि 'जगाओ न बापू को, नींद आ गयी है.' जिस महिला ने ऐसी नज्म लिखी थी उसने सम्भवतया बापू के अवचेतन शरीर को भी एक अधूरे सपने में निमग्न देखा था. तब कोई यह कहने वाला भी नहीं था कि 'इस देश को रखना मेरे बच्चों सम्हाल के...'

आज ज़रूरत यह है कि हम इतना-सा विवेचन करें कि महात्मा का स्थायी अमन और स्थायी आज़ादी का सपना क्यों अधूरा

रह गया? हम स्वयं कितने ज़िम्मेदार हैं उसके लिए और पूरा विश्व कितना ज़िम्मेदार है? बहुत सारी बातें जिन पर सोचना पड़ेगा कि जब देश जल रहा था तब महात्मा एक अधनंगे फकीर की तरह नोआखली में क्यों घूम रहा था? क्या कारण था कि उसके सामने कई बार हथियार फेल हो गये थे. विश्व की सबसे ताकतवर सत्ता उसके सामने छोटी हो जाती थी. वह कोई कम करिश्मा नहीं था कि सिर्फ तार चिट्ठियों के ज़माने में महात्मा को देश के करोड़ों लोगों ने न केवल जान लिया था, बल्कि अपना भी मान लिया था. जहां से गुजरता था वहां हज़ारों लोग दर्शन को आ जाते थे. प्रार्थना सभाओं में मंत्र-मुग्ध होकर बैठते थे और प्रेम से वह सब कुछ सुनते थे जो महात्मा कहा करते थे. उनका जीवन किस्सों और करिश्मों से भरा पड़ा था. पहले भारत भूमि ने और फिर समूचे विश्व ने उनको जो प्यार और विश्वास दिया वह उनकी अंतिम यात्रा में दिल्ली की सड़कों पर प्रकट हो गया था. मैलविल डिमेलो, जो चश्मदीद गवाह थे उस यात्रा के, स्वयं एक भिखारी को देखकर रो पड़े थे जो दिल्ली के फुटपाथ पर महात्मा के चले जाने के बाद फूट-फूट कर रो रहा था!

आज हमारे सामने चुनौती यह है कि वह अधूरा सपना कैसे पूरा हो? कौन करे पूरा? ❑

सबसे अच्छा मार्ग

हम लोगों को यह नहीं भूलना चाहिए कि इस स्वतंत्रता के पश्चात अब अपनी गलतियों का दोष मढ़ने के लिए ब्रिटिश यहां नहीं हैं. इसके बाद यदि कुछ विपरीत घटित होता है, तो उसके दोषी हम ही होंगे. विपरीत होने का बड़ा खतरा है. काल तेज़ी से बदल रहा है. सभी लोग नयी विचार प्रणाली से प्रभावित हो रहे हैं. जनता द्वारा शासन उन्हें मान्य है, पर वह शासन के लोगों का और लोगों के द्वारा चलाने को लेकर वे उदासीन हैं. जिस संविधान के द्वारा हम लोगों ने जनता का, जनता के द्वारा चलाया जाने वाला शासन स्थापित करने का यत्न किया है, उस संविधान की रक्षा हमें करनी हो, तो अपने मार्ग की जो दुष्ट शक्तियां हैं और जो जनता के शासन की अपेक्षा जनता के लिए शासन को पसंद करने के लिए लोगों को उद्यत करते हैं, ऐसी दुष्ट शक्तियों के पहचानने के विषय में मूढ़ न बनने का हम निश्चय करें. अपने देश की सेवा करने का यह एकमेव मार्ग है. इससे अधिक अच्छा मार्ग मुझे मालूम नहीं है.

– डॉ. भीमराव आंबेडकर

कहानी

मुझे जाने दीजिए

● शिवनारायण

विकास जिस समय विद्यालय पहुंचा, परीक्षा के आरम्भ होने की घंटी बज चुकी थी. दरबान परीक्षा-भवन का मुख्य द्वार बंद कर ही रहा था कि वह पहुंचा. वह पसीने से तर हो उठा, क्योंकि प्राचार्य के आदेशानुसार मुख्य द्वार बंद हो जाने के बाद किसी भी स्थिति में छात्रों को अंदर जाने की अनुमति नहीं मिलती थी. किसी तरह दरबान से अनुनय-विनय कर वह अंदर दाखिल हुआ और अपने कक्ष की ओर बढ़ गया. कक्षा में उत्तर पुस्तिकाएं बांटी जा चुकी थीं. वीक्षक सुरेंद्रनाथ ने उसे दृढ़ नज़र से देखा और अंततः उसे भी उत्तर पुस्तिका दे दी. उसने राहत की सांस ली.

राजधानी के इस अति प्रतिष्ठित पब्लिक स्कूल में अनुशासन काफी सख्त था. छात्रों के विलम्ब से आने को गम्भीरता से लिया जाता. प्राचार्य का खौफ छात्र तो छात्र, शिक्षकों पर भी हावी रहता. आज गणित का पर्चा था. विकास किसी तरह निर्धारित अवधि में पर्चा पूरा कर सका. आज का पर्चा यों भी कठिन था. वीक्षक कई बार छात्रों को चेतावनी दे चुके थे कि समय रहते ही अतिरिक्त ली गयी पुस्तिका के साथ नत्थी कर लें अन्यथा बाद में समय नहीं दिया जायेगा. छात्र गणित के सवालों को हल करने में इस प्रकार उलझे हुए थे कि वीक्षक की चेतावनी पर उनका ध्यान ही नहीं गया. परीक्षा समाप्ति की घंटी लगने पर वीक्षक सुरेंद्रनाथ छात्रों से उत्तर पुस्तिकाएं झपटने-से लगे. कक्ष में अफरा-तफरी मच गयी. विकास ने किसी तरह अंत में अपनी उत्तर पुस्तिका वीक्षक को दी.

तीन घंटे की इस परीक्षा के बाद आधे घंटे के अंतराल पर दूसरी पाली में विज्ञान की परीक्षा आरम्भ होनी थी. परीक्षार्थी तनाव में दीख रहे थे. कैंटीन में कुछ छात्रों का समूह आवश्यकता से अधिक असहज एवं उत्तेजित था. विकास भी अपने दो-तीन मित्रों के साथ इसी समूह में टिफिन ले रहा था. उसके साथ के छात्रों ने कहा– 'हमारे कमरे में तो आज सुरेंद्रनाथ सर ने हद कर दी... घंटे भर पहले से ही 'जल्दी करो... जल्दी करो' और 'कापी नत्थी करो' का शोर मचाते रहे और अंत में घंटी लगी नहीं कि कापी झपट ली... यार, मेरे तो तीन

प्रश्न ही छूट गये...'

'मैंने ही कौन-से सारे प्रश्न हल कर लिये? तुम्हारे तीन छूटे तो मेरे भी दो रह गये... वार्निंग बेल लगते की कापी झपट ली उन्होंने. पता नहीं इस बार क्या होगा?' संतोष ने कहा. प्रभात ने रोष में कहा– 'ये सब प्रिंसिपल की करतूत का फल है यार. कहां तो परीक्षा अगले महीने के फर्स्ट वीक में होने वाली थी और प्रत्येक विषय की परीक्षा में दो-एक दिनों का गैप भी... कहां अब तीन दिनों में ही सारे विषयों की परीक्षा ली जा रही है और वह भी प्रतिदिन तीन-तीन घंटों वाली दो-दो विषयों की. भगवान ही मालिक है, क्या होगा इस बार!'

यशपाल ने उसे समझाया– 'इसमें प्रिंसिपल का क्या दोष है, यार? महीनों पहले प्रोग्राम बनाते समय उन्हें कहां से मालूम पड़ा होगा कि हम लोगों की परीक्षा के समय ही प्रदेश में विधानसभा चुनाव होंगे... अब चुनाव के पहले ही परीक्षा का हो जाना तो हमारे ही फायदे में है.'

'जो भी हो... एक दिन में दो-दो विषयों की परीक्षा से कितनी आफत हो गयी है, यह तो सोचो. न ठीक से पढ़ाई हो पाती है और न ठीक से सो पाता हूं.' विवेक ने हाथ धोते हुए कहा.

हर्ष ने मुस्कुराते हुए कहा– 'मुझे तो कोई परेशानी नहीं हो रही है... जानते हो, मेरे कमरे में आज हिस्ट्री वाले शर्मा सर ने कहा 'चोरी विद्या, भालो विद्या, जदि न धरा जाबेन.' और कापी क्वेश्चन बांटने के बाद जो वे बैठे तो अंत तक बैठे ही रह गये. बड़ा मजा आया.' अमिय मृणाल ने तुक्का जोड़ा– 'मेरे कमरे में मिसेज चंद्रबाला मिस थीं... कापी क्वेश्चन देने के बाद वे बगल की मिस आराधना शरण से जो बतरस में डूबीं तो फाइनल बेल तक डूबीं ही रही. मैथ तो बड़ा अच्छा रहा, अब साइंस में देखें क्या होता है?'

तभी घंटी बज उठी. छात्र अपने-अपने कमरे की ओर लपके. विकास का टिफिन अभी पूरा नहीं हुआ था. वह प्रवीण के साथ प्रश्नों का सही हल मिला रहा था. जल्दीबाजी में टिफिन पूरा कर वह भी अपने कमरे की ओर बढ़ गया.

विकास के अपने कमरे में पहुंचते ही प्रथम पाली के वीक्षक सुरेंद्रनाथ ने उसे धर दबोचा. गरजते हुए कहा– 'क्यों विकास, तुमने प्रथम पाली में गणित की उत्तर पुस्तिका वापस क्यों नहीं की थी?'

'कापी तो मैंने आपके ही हाथों में दे दी थी, सर.'

'क्या बकते हो? मुझे तो तुमने नहीं दी?'

'नहीं सर, मैंने आपको ही दी थी.'

'तुम झूठ बोलते हो.' कहने के साथ ही सुरेंद्रनाथ ने उसे तीन-चार तमाचे जड़ दिये और धमकी दी कि यदि तुमने पुस्तिका जमा नहीं की, तो तुम्हें इस बार फेल कर

दिया जायेगा. विकास रोने को हो आया. गणित का पर्चा खराब हो जाने के बाद विज्ञान के पर्चे ने उसे राहत दी थी, किंतु इस अकस्मात आरोप से उसकी बुद्धि ही चकराने लगी. वह जैसे-तैसे प्रश्नों के उत्तर लिख रहा था. मन में संशय लगा रहा कि जाने क्या हो?

दूसरी पाली की परीक्षा में प्रत्येक पंद्रह मिनट के अंतराल पर कोई-न-कोई शिक्षक आकर उससे पूर्व पाली की परीक्षा की उत्तर पुस्तिका के बारे में पूछता और परामर्श देता कि यदि वह पुस्तिका जमा कर दे तो वे उसे दंडमुक्त करा देंगे. वह समझ नहीं पा रहा था कि उसे क्या करना चाहिए? परीक्षा प्रभारी मिसेज नमिता कश्यप ने भी एक बार आकर उससे पुस्तिका वापस करने की चेतावनी दी. इन दबावों की वजह से उसके विज्ञान का पर्चा भी खराब हो गया.

मामला प्राचार्य तक पहुंच चुका था. उन्होंने वीक्षक सुरेंद्रनाथ को बुलवाकर चेतावनी दी– 'उत्तर पुस्तिका आपकी लापरवाही से गायब हुई. उसे बरामद कीजिए अन्यथा आप पर एक्शन लिया जायेगा.'

'सर, मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूं कि परीक्षार्थी ने पुस्तिका वापस नहीं की...' सुरेंद्रनाथ जी की बात पूरी नहीं हो सकी, बीच में ही प्राचार्य ने उन्हें ललकारा– 'वह आप जानिए. यदि आपको सारी उत्तर पुस्तिकाएं मिल नहीं गयी थीं तो आपने छात्रों

को कमरे से बाहर जाने ही क्यों दिया?'

'गलती हो गयी, सर!'

'मैं कुछ नहीं जानता... आप कापी बरामद कीजिए अन्यथा अनुशासनिक कार्रवाई के लिए तैयार रहिए. मैं अभी ई.आई (एक्जामिनेशन इन्चार्ज) को नोटिस भिजवाता हूं.'

प्राचार्य के कक्ष से बाहर निकलते ही सुरेंद्रनाथ को परीक्षा विभाग के शिक्षकों ने घेर लिया. प्रभारी ने पूछा– 'क्या कहा प्रिंसिपल ने?'

'मिसेज कश्यप, अब आप ही मुझे बचा सकती हैं. इस मामले में प्रिंसिपल का रुख बहुत कड़ा है... प्लीज मिसेज कश्यप, कुछ कीजिए आप.' सुरेंद्रनाथ के इस कथन पर एक क्षण को तो सभी परेशान हो उठे, किंतु तुरंत बाद ही सहायक परीक्षा प्रभारी मिसेज नीलिमा दुबे ने स्थिति को संभालते हुए कहा– 'सुरेंद्रनाथ जी,

आप दूसरी पाली की परीक्षा खत्म होने पर विकास को रोक लीजिए. यदि उसने तमाम प्रयासों के बाद भी कापी नहीं दी, तो उसे दूसरी कापी देकर फिर से गणित की परीक्षा ले लीजिए और इस बात को प्रिंसिपल से गुप्त ही रखिए.' परीक्षा प्रभारी मिसेज कश्यप ने भी इस सुझाव से अपनी सहमति दिखायी, तो सुरेंद्रनाथ की जान में जान आयी.

परीक्षा की समाप्ति पर जब सभी छात्र कमरों से निकलने लगे, तो विकास को सुरेंद्रनाथ जी ने रोक लिया. वह परीक्षा विभाग में ले जाया गया. विकास हतप्रभ था. मिसेज कश्यप ने उसे एक पुस्तिका एवं गणित का प्रश्न-पत्र थमाते हुए उसे दो घंटे में ही पूरा कर लेने का आदेश दिया. तीन-चार अन्य शिक्षक उसे घेरकर खड़े हो गये. विकास ने प्रार्थना की– 'मैडम, मेरी बस छूट जायेगी. आप मुझसे कल परीक्षा ले लीजिएगा, आज जाने की अनुमति दे दीजिए, फिर मुझे ज़ोरों की भूख लग रही है.'

'वह सब नहीं जानती. या तो तुम गायब पुस्तिका जमा करो अन्यथा फिर से परीक्षा दो.' मिसेज कश्यप गरजीं.

'मैडम, मैं किसी भी स्थिति में फिर से परीक्षा देने की मन:स्थिति में इस समय नहीं हूं. छ: घंटे तक लगातार गणित और विज्ञान की परीक्षा देने के बाद... फिर तीन घंटे तक गणित की परीक्षा देना मेरे वश में नहीं रह गया है. फिर गणित की कापी मैंने सर को दे दी थी.'

'बकवास बंद करो और लिखो.' मिसेज कश्यप पुन: गरजीं.

विकास कुछ कहता कि पास खड़े सुरेंद्रनाथ पुन: धुनाई करने लगे. सहायक परीक्षा प्रभारी ने उन्हें रोका– 'ये क्या कर रहे हैं सुरेंद्रजी... कुछ समझ से काम लीजिए. अब आप छात्र की पिटाई करेंगे तो वह लिखने से रहा. उसे प्यार से समझाइए, पुचकारिए, दुलारिए और किसी तरह कापी पर नाम, रोल नम्बर आदि लिखवाकर इससे एक आध प्रश्न का उत्तर लिखवाइए और कापी रख लीजिए, अन्यथा आप तो फंसेंगे ही, परीक्षा विभाग पर भी शामत आयेगी.'

मिसेज कश्यप चौकन्ना हो गयीं. सुरेंद्रनाथ को हटने का इशारा कर छात्र को समझाने लगीं, 'बेटे तुम कुछ भी लिख दो कापी पर, मैं तुम्हें पास करवा दूंगी. तुम्हें भूख लगी है न, अभी मंगवा देती हूं खाने को. कुछ समझने की कोशिश करो बेटे. कहीं प्रिंसिपल साहब को पता चल गया तो वे तुम्हें अगली कक्षा में प्रमोट होने नहीं देंगे. मेरी बात समझने की कोशिश करो. जो गलती होनी थी, हो गयी, अब उसके लिए अपना कैरियर क्यों बरबाद करोगे. यह कापी लो फटाफट कुछ लिख दो.'

'मगर मैडम, मुझमें अब इतनी शक्ति ही नहीं रह गयी कि मैं कुछ भी कापी पर

लिख सकूं. आप कल मुझसे परीक्षा ले लीजिएगा मैडम, आज तो बिल्कुल सम्भव नहीं है...'

'देखो, लिखना तो पड़ेगा ही.'

तभी शिक्षकों में कानाफूसी होने लगी. सभी चौकन्ने हो गये. प्रिंसिपल इधर ही आ रहे थे. मिसेज कश्यप की सांस फूलने लगी. वह कभी मिसेज दुबे की तरफ देखती तो कभी बाहर ग्रिल की तरफ, जिधर से प्रिंसिपल के आने की पदचाप सुनाई पड़ रही थी. अब ऐसे तनाव के क्षणों में मिसेज दुबे ही ई.आई. सहित अन्य सहकर्मियों का मार्ग– प्रशस्त करती आयी थीं. आज भी मिसेज दुबे ने ही कमान संभालने की कोशिश की. उन्होंने सुरेंद्रनाथ को इशारा किया, जिसे समझते हुए वे तत्काल विकास को साथ लिये खिड़की के रास्ते कूद कर बगल के कमरे में चले गये.

परीक्षा विभाग में आते ही प्रिंसिपल ने सरसरी तौर पर चारों ओर दृष्टि डाली एवं एक ओर रखी कॉपियों के ढेर की ओर संकेत करते हुए पूछा– 'वह कचरा इस तरह क्यों पड़ा है? इसकी सफाई करवाइए, कहने के साथ वे कचरे के पास चले गये और इधर-उधर देखने लगे.

'सर, ये पिछली परीक्षा की कॉपियों की ढेर हैं. इसे कल साफ करवा दूंगी.' मिसेज कश्यप ने सफाई दी. तब तक प्रिंसिपल के हाथ में एक उत्तर पुस्तिका आ चुकी थी, जिसे पलटते हुए बोले, 'पिछली परीक्षा, लेकिन इस पर तो वार्षिक परीक्षा के साथ इसी वर्ष के नम्बर अंकित हैं और अरे..., तारीख भी तो आज ही की पड़ी हुई हैं...' फिर उन्होंने नाम पढ़ते हुए कहा 'यह तो विकास कुमार नाइन-सी के गणित की कापी है... इसी की कापी खो गयी थी न?'

मिसेज कश्यप एकदम से चुप. स्थूलकाय मिसेज दुबे बगलें झांकने लगीं. तभी बगल के कमरे से रोने की आवाज़ सुनाई पड़ी– 'सर, मुझे जाने दीजिए... मुझे भूख लगी है.'

प्रिंसिपल ने कड़क आवाज़ में पूछा 'किसकी आवाज़ है यह?' पूछने के साथ ही उन्होंने बगल के कमरे की ओर देखा– एक छात्र हाथ जोड़े रो रहा है और सुरेंद्रनाथ उसका मुंह दबाने का असफल प्रयास कर रहे हैं. ❑

महत्वपूर्ण है टिके रहना

लेखन एक मैराथन दौड़ है. इसमें कौन कब आगे है, कब पीछे है, कब बीच में है, इससे ज़्यादा महत्वपूर्ण यह है कि कोई लेखक इसमें टिका रहे, थककर या ऊबकर बीच में दौड़ स्थगित न कर दे. **– अमृत राय**

रंगमंच अतीत का

● योगेशचंद्र बहुगुणा

ब पढ़ने में आ रहा है, सुनने में भी कि वर्तमान ही सब कुछ है. वही सार्वभौमिक है, सर्वकालिक सत्य है, इसलिए उसी में जीना चाहिए. अतीत से मुक्त होने के उपदेश दिये जा रहे हैं. अनागत तो अनिश्चित है उसकी चिंता क्यों करनी है? इसलिए जब तक जियो, सुख से जियो, क़र्ज़ा लेकर भी घी पियो 'यावज्जीवेत सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पीवेत् भस्मीभूतस्यदेहस्य पुनरागमन कुत:', कहां का पुनर्जन्म और कहां का पूर्वजन्म. देह चिता पर जलकर राख हो जाती है, तब कहां से, कब से आना जाना?

लेकिन क्या ऐसा ही है? क्या यही सच है? कहां है वर्तमान? जब तक वर्तमान पर उंगली रखते हैं, तब तक वह अतीत बन जाता है और अगला कदम भविष्य की ओर उन्मुख हो उठता है. जो आज है वह कल बनकर स्मृति की खोह में खो जाता है, जो अभी आया ही नहीं, उसके कदमों की आहट सुनाई देने लग जाती है. भूत, वर्तमान, भविष्य की तिपाई पर जीवन की सारी व्यवस्था टिकी हुई है. इस शृंखला से चराचर मात्र जुड़ा हुआ है और गतिमान है. एक अनवरत प्रवाह है ज़िंदगी का, कल-आज और कल.

तभी तो मन बार-बार वर्तमान के बिंदु पर खड़ा होकर अतीत की ओर दौड़ लगाता है. अभी और आज में उसे कितना भी बांधने की कोशिश करिये, रस्सियां तोड़-तोड़कर वह बीते हुए कल को खोजने लगता है. स्मृतियों की सुरंगों में जो घटित हो चुका है, वह कभी मिटता नहीं, सोया रहता है विस्मृतियों की पलकों में. जब कोई अनहोनी होने को होती है, तो यादों के मंच पर अवतरित होकर नृत्य करने लगती हैं.

इसे आप मेरा अतीत का मोह, नॉस्टेल्जिया भी कह सकते हैं और उम्र के जिस पड़ाव पर मैं इस समय विराजमान हूं– मैं इससे इनकार भी कैसे कर सकता हूं. इसीलिए साबरमती के तट पर से भी मेरा मन कुलांचे भरकर पहुंच रहा है सावली (टिहरी गढ़वाल) अपने घर के पड़ोस के घेरनी बुड्या की तिवारी में. इसके लकड़ी के खम्भों पर अप्रतिम कलाकारी अंकित की है वहां के स्थानीय

कारपेंटर ने. दो पुर्या तिवारी है उनकी. बौंड में दो कमरों के बीच में बरामदा, छज्जे के साथ लकड़ी से बना जंगला (ग्रिल), दो ओबरे, एक में रसोई तो दूसरे में गौशाला, एक दो भैंस, एकआध गाय और एक जोड़ी बैलों की आरामगाह. गोठ्यार (आंगन) के चारों ओर पत्थरों से चिनाई करके बनायी गयी रौणी (सुरक्षा दीवार).

उम्र का कौन हिसाब रख पाता था उन दिनों? पर लगभग अस्सी के आसपास तो होगी ही. सिर के बाल सफाचट्ट कर हल्की-सी दाढ़ी, मूंछें शेष पतली-सी टांगों में गजब की स्फूर्ति, घुटनों तक की धोती पहनते, आवाज़ फटे बांस की तरह फटी-फटी सी, चुभती, पैनी-सी.

'घेरनी बुड्या' उनका असली नाम नहीं था. नाम तो था गिरधारी लाल, परंतु बच्चों का नाम बिगाड़ लेते हैं, मां-बाप. भाद्या, कुत्ता, ग्वाणू, गलथी, ऐत्वारू, काल्या, फिसकू, सिणकू ना जाने कितने अलंकरणों से अलंकृत कर देते हैं वे. दूसरी ओर बड़ों का नाम बिगाड़ देती हैं बहुएं. उम्र और नाते रिश्ते में अपने से बड़ों को उनके नाम से कैसे सम्बोधित करें? सामने होंगी तो रिश्ते से सम्बोधित करेंगी, ससुरा जी, जेठाजी, द्यूर जी, चाचा जी, सासू जी, पर पीठ पीछे 'घेरनी जी होर'. 'धुरारी जी होर', 'चमडुजी होर', 'डुण्डाजी होर'. 'धुरारी जी होर' भी हमारे पड़ोसी थे. हमारे मकान के पीछे से ही उनके घर का रास्ता जाता था. वे अक्सर हमारे यहां बाबाजी के साथ गप्प लड़ाने आ जाते. किसी दिन 'धुरारी जी होर' की शब्द-ध्वनि उनके कान से टकरा गयी. थोड़ा मुस्कुराये फिर बड़े प्यार से बोले– 'हे मेरों मुरारी जी बोला मुरारी, जैका होंदान बैका ही त होंदान नौ लेंदारा भि' (हे बेटियों मुरारी जी बोलिये, जिसके होते हैं वही तो होते हैं नाम लेने वाले) अब बहुओं में खुसफुस शुरू हो गयी, 'हे छोरी जोर-सी नी बोल, सुणअयाली मिजाण ऊंन' (हे छोरी, ज़ोर से मत बोल शायद उन्होंने सुन लिया है).

उन दिनों पत्नी भी अपने पति का नाम कहां बताती थी. अलाणा कु बाबा, फलाणा कु बाबा, या उसी से मिलता-जुलता कोई शब्द बोलकर. बाकी समझदार को इशारा ही काफी. कोई गैल्याण साथ में होती तो वह संकेतों से व्याख्या करके बता देती. 'तारक मेहता का उल्टा चश्मा' की दया बहन भी 'डब्बू के पापा नाश्ता करलो, डब्बू के पापा आज दुकान नहीं जाना क्या?' से आगे जेठा लाला नाम से पुकारने तक कहां बढ़ पाती है? वे भारतीय नारियां 21वीं सदी के द्वार पर खड़ी युवतियों को पति को नाम लेकर बुलाती सुनें तो उनकी आंखें फटी की फटी रह जाएंगी और आह भरकर कहेंगी– कैसा ज़माना आ गया रे! नाम तक नहीं वर्जती हैं आज

की लड़कियां.

गिरधारी बुड्या प्राय: अपने बरामदे के खम्भे के साथ पीठ टिकाकर 'गुड़ाखु' तम्बाखू से हुक्का गुड़गुड़ाया करते और वहीं से बहू-बेटियों की गतिविधियों पर निगरानी रखते. बीच-बीच में आदेश-निर्देश भी देते रहते. कभी नातिन 'किमली' को पुकार रहे होते तो कभी नाती 'चोंचू' को डांट पड़ती. पर उनका मुख्य शगल था पास पड़ोस के बच्चों को डराना. उनके सग्वाड़े में एक बड़ा-सा चूलू (खुबानी की एक प्रजाति) का पेड़ था. मौसम अंगड़ाई लेता तो चूलू पकने लगते, हरापन पीलेपन में बदलने लगता, पड़ोस के बच्चों की ललचाई नज़रें फलों से झक बने उस पेड़ का मुआयना करने लगतीं. एक नज़र बरामदे की ओर भी उठती. कहीं घेरनी बुड्या देख तो नहीं रहे हैं. जब आश्वस्त हो जाते तो एक छलांग में ही पेड़ की टहनियों तक पहुंच जाते और उन्हें ज़ोर-ज़ोर से हिलाने लगते ताकि ज़्यादा से ज़्यादा पके फल ज़मीन पर गिरें और वे उन्हें जेबों में ठूंसकर चम्पत हो जाएं. पर घेरनी बुड्या भी कम घाघ नहीं थे. वे बच्चों की कारगुजारी का पुर्वानुमान लगा लेते और 'ताले' (लोहे की दो मुहीं सरिया) को लाल गर्म करके 'फैड़ी' (सीढ़ी) की ओट में छिप जाते. जैसे ही बच्चों की हलचल प्रारम्भ होती वे बाहर प्रकट हो जाते और ताले को हाथ में पकड़े हुए उनके पीछे दौड़ लगाते. अब बच्चे तो बच्चे ठहरे. ये जा और वो जा. तुरंत गायब और मकानों की आड़ से फिर कब प्रगट हो जाएं कुछ पता नहीं. इस लुका-छिपी के खेल का अपना ही आनंद था. पके हुए चूलू पर बच्चे कुछ ना कुछ तो हाथ साफ कर ही लेते थे. हास परिहास का यह खेल गाहे बगाहे चलता ही रहता, इनको चिढ़ाने का, उनको डराने का.

ज़िंदगी के मंच पर घेरनी बुड्या अच्छे कामेडियन थे. आये दिन कई घटनाएं चर्चा में रहती थीं. गरमी आती तो कई परिवार अपने चैन-पशुओं को लेकर डांडा (चोटियां) चले जाते छानियों में और कोई सदस्य रात को घर की जग्वाली करने गांव में आ जाता. उनके परिवार में यह दायित्व घेरनी बुड्या को सौंपा गया था. उस सुबह वह जरा जल्दी ही उठ गये और गोबर-मिट्टी मिलाकर बरामदे की लिपाई-पुताई करने लगे. पड़ोस के उतिमा दादाजी भी रात को घर जग्वालने आते थे. सुबह को उठे. सोचा 'घेरनी' के यहां चलकर एक सोड़ तम्बाकू की मारकर आ जाता हूं फिर वहीं से छानी के लिए रवाना हो जाऊंगा. पहुंचे तो देखा गिरधारी लाल साफ़ सफाई में जुटे हैं. 'क्या बात रे घेरनी आज सुबेर-सुबेर क्या छैं करणु?' (सुबह-सुबह क्या कर रहा है?) 'कुछ नी चाचा', सोचा आज शाम भगवान का नाम ले लूं, तुम भी आ जाना दो रोटी यहीं पर खा

लेना, उतिमा दादाजी खूब खुश हुए. अच्छा है– सत्यनारायण की कथा कर रहा है शाम को. तो अभी चलता हूं. शाम को तो आना ही है. वे चले गये.

सूरज ढलने से पहले ही उतिमा दादाजी एक 'लमेंडु' (कद्दू) और एक ठेकी पर मौल्या दै (मीठा दही) लेकर उपस्थित हो गये. इधर देखा, उधर देखा, किसी का अता पता नहीं. कैसी सत्यनारायण की कथा है? गिरधारी के घर कहीं धुंआ तक नहीं दिखाई दे रहा है. सोचा, संक्षेप में कर रहा है तो ज़्यादा तामझाम की ज़रूरत ही क्या है. अभी चल देता हूं फिर आ जाऊंगा. यह सोचकर उतिमा दादाजी ने लमेंडा और दही की ठेकी वहीं बरामदे के एक कोने में रख दी और चल दिये.

धेरनी बुड्या चोरी छिपे उनका आना और जाना सब सावधानी से देख रहे थे. जैसे ही उन्होंने पीठ फेरी वे प्रगट हुए. लमेंडा और ठेकी लेकर रसोई में घुस गये. कद्दू उबाला, दही के साथ उसे फेंटकर रायता तैयार किया. फटाफट आटा गूंदा, चार रोटियां बनायीं, उन्हें पेट के हवाले किया, रसोई का दरवाज़ा बंद करके ऊपर के एक कमरे में बिस्तर लगाया. दरवाज़ा बंद करके अंदर से 'थामण' (आंगल) लगायी और लम्बी तानकर सो गये. कुछ देर बाद घूमघाम कर उतिमा दादाजी पहुंचे, तो देखा कद्दू और दही की ठेकी गायब. किवाड़ पर धक्का दिया तो वे खुले ही नहीं. वे चाल समझ गये. 'तो गिरधारी मैं भी तुझसे कुछ कम नहीं हूं. आखिर तेरा चाचा हूं' मन ही मन बुदबुदाते हुए उन्होंने भी दरवाज़े के बाहर से सांकल चढ़ाई और रुखसत हुए.

रात बीती. भोर का सूरज उदित होने को है. डांड्यो, कांठ्यो में हल्का पीला घाम फैलने लगा है. पंछी चहचहाने लगे हैं. उनके आंगन में खिली रजनीगंधा के फूलों की महक शीतल बयार के झोंकों के साथ मिलकर खिड़की तक पहुंच रही है और पुकार रही है 'दरवाजा खोलो, मुझे अंदर तक आने दो', अब गिरधारी क्या करे? ऑगल हटाकर द्वार खोलने के लिए ताकत का इस्तेमाल करता है, पर बाहर से लगी सांकल का क्या हो? जब हताश निराश हो गया तो अपनी नातिन 'किमली' को ज़ोर-ज़ोर से आवाज़ लगाने लगा. पर किमली वहां हो तब ना! काफी देर बाद पास-पड़ोस में किसी के कानों में चिल्लाने की आवाज़ पड़ी. कोई आया, सांकल खोली और गिरधारी को कारागार से मुक्त किया.

फिर कुछ दिन बाद मेलों का महीना बैशाख आ गया. इस पूरे महीने किसी न किसी स्थान पर मेला लगा रहता है. दूर-दूर से जनाना, मर्द, बच्चे रंग-बिरंगे परिधान पहने सजधज कर मेले में आते हैं. मेला यानी मिलन, ससुराल की बेटियां मायके

वालों को मिलती हैं. चूड़ी, बिंदी, फोंदा (परांदा), रबड़ की गेंद खरीदते हैं. मर्द मंडाण में नाचते हैं. वसंतोत्सव अपने पूरे सबाब पर होता है, सब जगह गहमागहमी होती है.

इस गहमागहमी के बीच वह नौजवान 'घेरनी बुड्या' के पास पहुंचा. युवक की दाढ़ी, मूंछ बढ़ी हुई थी. वह ज़माना सेफ्टी रेजर और ब्लेड का तो था नहीं. पूरे गांव में मात्र एक नाई का घर था, वही सबका मुंडन करता, दाढ़ी मूंछ बनाता, बदले में फसल पर डड़वार मिलता. घेरनी बुड्या के पास अपना उस्तरा था सो युवक उसी के पास पहुंचा. आज बादशाही थौल का दिन था, छः गते बैसाख. राजशाही के दिनों में टिहरी नरेश जब नरेंद्रनगर (राजधानी) से टिहरी जाया करता था तो मोटर रोड तो बहुत बाद में बनी, हमारे गांव से लगे पैदल मार्ग से जाया करता था. इसीलिए कुछ जगहों का नाम राणीचौरी, राण्यौ का ढौंढ, बादशाही थौल पड़ गया. उसने अपना आवेदन प्रस्तुत किया. चाचा, मेरी दाढ़ी मूंछ इस तरह बना देना कि मेले में सब मुझे ही देखें.

'तू चिंता न कर रे! तू भी क्या समझ्रुलु कि आज के गुरु का पल्ला पड़ि थौ' और उस्तरे को नसेनी पर घिसकर खूब पैना कर उसकी दाढ़ी-मूंछ सफाचट कर दी.

खुशी-खुशी युवक थौल (मेला) पहुंचा और क्या देखता है कि जिसकी भी नज़र उस पर पड़े वह मुस्काने, हंसने से अपने को रोक ना सके. कोई युवती सहेली के कंधे पर सिर रखकर मुलमुल हंसते हुए अंगुली से उसकी ओर इशारा करके कहे– 'देखो गबरू जवान! छैला बनकर किस मस्तानी चाल से चला जा रहा है' उसे विश्वास हो गया कि गिरधारी लाल ने सचमुच उसकी दाढ़ी मूंछ बनाने में अपना पूरा हुनर झोंक दिया है. तभी तो सबकी नजर उसकी ओर उठ रही है. वह और सीना फुलाकर चलने लगा, मटक-मटक कर. तभी देखा कि अपने ही गांव की एक प्रौढ़ महिला सामने से उसी की ओर चली आ रही है. निकट पहुंच कर एक व्यंग्य भरी नज़र उसने युवक की ओर फेंकी और बोली– 'अबे छोरा! यू क्या हुलिया छ रे तेरू बणायुं, शर्म नि औंदि त्वै?' (अबे छोकरे! ये क्या हुलिया बना रखा है तूने शर्म नहीं आती है तुझे) वह थोड़ा सकपकाया, क्या हुआ, क्या किया मैंने. प्रौढ़ स्त्री ने जेब से एक छोटी-सी डिबिया निकाली और उसके चेहरे की तरफ किया. थौल में पिठाई, बिंदी रखने को इस तरह की डिबिया स्त्रियां प्राय: खरीदा करती थी. डिबिया के ढक्कन के ऊपर छोटा-सा शीशा लगा रहता था, जिस पर चेहरा देखकर स्त्रियां अपना श्रृंगार कर लिया करती थीं. युवक ने उस पर अपने चेहरे का प्रतिबिम्ब देखा. देखता

क्या है कि एक तरफ की मूंछ सफाचट और दूसरी तरफ की सही सलामत. अब उसकी समझ में आया कि क्यों बच्चे तक उसकी ओर उचक-उचक कर देख रहे हैं. 'कैनु मुर्दा मरे गिरधारी बुड्या कू' (कैसा मुर्दा मरा गिरधारी बूढ़े का) बुदबुदाता हुआ वह सरपट घर की ओर दौड़ा.

वे न केवल श्वेतवस्त्र धारी देवदूत जैसे थे, बल्कि उन्होंने सफेद रंग का घोड़ा भी खरीद लिया था और उसी पर सवार होकर वे अपनी कर्मभूमि जाया-आया करते थे.

घेरनी बुड्या की उम्र अस्सी साल की हो गयी थी. अंतकाल अब निकट ही था. फिर भी पोपले मुंह से कहते 'अरे अभी तो मैं जवान पट्ठा हूं, अभी तो मेरे बाल लाल होने हैं (काले से चांदी जैसे सफेद तो हो ही गये थे) गर्मियों में रात को खटिया डालकर चादर तानकर गोठियार में ही अकेले सो जाया करते थे. उस दिन सुबह उठे और खटिया छोड़ी तो जो भी मिलता उससे एक ही बात, एक ही समाचार.

अरे तूने नहीं सुना! आज रात यमराज के दूत मुझे लेने आये थे, सफेद दाढ़ी, नुकीली मूछें, चूड़ीदार पायजामा और सफेद मिरजयी पहने हुए, मेरी खाट के पास खड़े होकर कहने लगे 'अरे गिरधारी! तुझे दिख नहीं रहा, हम यमराज के दूत हैं. यमराज ने हमें तुझे लेने के लिए भेजा है. वहां वह पालकी रखी है, झटपट बैठ उसमें. देर हो रही है, रात खुल जायगी तो सब गड़बड़ हो जायेगा. यमराज को जाकर क्या जबाव देंगे हम.'

तब जानते हो मैंने क्या कहा, अरे मैं गिरधारी नहीं घेरनी हूं. घेरनी, तुम गलत जगह आ गये. गिरधारी कोई और होगा. उस समय तो यमदूत चले गये, पर जल्दी ही यमदूत लौटकर घेरनी बुड्या को लाल डोली पर बिठाकर यमलोक को ले गये और हमारे बगड़ (मोहल्ला) में सन्नाटा पसर गया.

नाटक के एक दृश्य का पटाक्षेप होता है तो जल्दी ही पर्दा उठता है और मंच पर दूसरा ही सीन दृष्टिगोचर होता है. गिरधारी गये तो नारायण दत्त बड़ाजी नायक की भूमिका में प्रगट हो गये. उनका मकान गांव के सबसे ऊपर आखिरी छोर पर था, दो पुरा, पहले पठाली (पत्थर की स्लेटें) से छाया हुआ, बाद में लिंटर डलवा दिया. एक ही लड़का था, महावीर भाई और एक ही लड़की. लड़के की दो शादियां थीं, पर चूहा तक न जन्मा. महावीर भाई नि:संतान और नारायण दत्त बडाजी ने बिना दादा बने ही देह त्याग दिया. वे धुरंधर किस्म के वैद्य थे. मेरे सगे बड़ाजी यशोदानंद जी और नारायण दत्त जी ने साथ-साथ बनारस

में वैद्यक की शिक्षा पायी थी और दोनों ही वैद्यगिरी व पंडिताई का काम करते थे. दो शादियां करने के बाद भी बड़ाजी को संतान सुख नहीं मिला था और मुझे ही उन्होंने अपना लिया था. नारायण दत्त जी बड़ी शान-शौकत से जीने में विश्वास करते थे. वे न केवल श्वेतवस्त्र धारी देवदूत जैसे थे, बल्कि उन्होंने सफेद रंग का घोड़ा भी खरीद लिया था और उसी पर सवार होकर वे अपनी कर्मभूमि जाया-आया करते थे. चीनी की चाय पीते थे जबकि उन दिनों गुड़ की चाय पीने का प्रचलन अधिक था.

नयी-नयी आज़ादी आयी थी. लोगों में अपार उमंग और उत्साह था. लगता था कि नया सवेरा आने को है. पंचायती चौक में अनेक मुद्दों को लेकर समय-समय पर बैठकें हुआ करती थीं. हमारे गांव का पंचायती चौक भी अपने ढंग का अनूठा ही है. हमारे पूर्वज पांच सौ साल पहले बुधाणी (पौड़ी गढ़वाल) से आकर जब इस गांव में बसे थे तो यहीं पर उन्होंने 'थर्प' नाम से अपना दोमंजिला मकान बनाया था, जिसके अवशेष लम्बे समय तक यहां पर रहे और उन्हीं दिनों उन्होंने इस चौक का निर्माण भी किया था. दो तरफ ऊंची-ऊंची दीवारें बनाकर उस पर इतनी लम्बी-चौड़ी और भारी वजन की पठालें बिछाई कि आज उन्हें उठाने के लिए 9-10 लोगों की श्रमशक्ति की आवश्यकता पड़ेगी. यहीं पर दीवाली में मंडाण लगता था, पांडव नचाये जाते थे, दुर्गाष्टमी में भैंसे की बलि दी जाती थी. इसी तरह सामुदायिक गतिविधियों का वह केंद्र था, आज भी है.

उसी चौक में उस दिन गांव की पंचायत बैठी. अध्यक्षता नारायणदत्त बडाजी ने की. उपस्थिति रजिस्टर पर उन्होंने अपने हस्ताक्षर अंकित किये. कई तरह के प्रस्ताव पारित हुए और पंचायत उठ गयी. कुछ दिनों बाद उन प्रस्तावों पर विवाद खड़े हो गये. लोग नारायणदत्त जी के पास पहुंचे. उन्होंने प्रस्तावों के बारे में अनभिज्ञता प्रगट की. लोगों ने याद दिलाया कि वह बैठक तो आपकी अध्यक्षता में हुई थी और उपस्थिति रजिस्टर पर आपके हस्ताक्षर भी हैं. वे बड़े हाजिर जवाब थे, तुरंत बोले– 'अरे क्या हुआ तब? हाथ के अंगूठे से हस्ताक्षर किये थे, पांव के अंगूठे से मिटा देंगे.' तो एक सज्जन ताव में आकर बोले-चाचाजी! जानते हैं मैं बट्टण हूं (नाम उनका सुंदरलाल पर लोगों की जबान पर बट्टण) उनका भी त्वरित जवाब था 'अरे बट्टण छैं त क्या ह्वै तब, दबल्यात अंगूठा न ही.' (अरे बटन है भी तो क्या हुआ दबोगे तो अंगूठे से ही)

ऐसे कितने तो पात्र, कितने तो दृश्य हैं अतीत के रंगमंच के. उन सबसे कटकर कैसे जी सकते हैं वर्तमान का ढोल पीटकर. ❑

मेरी डिजिटल दुनिया

● धर्मपाल महेंद्र जैन

मुझे पता ही नहीं चला कि मैं कब डिजिटल हो गया. नया आईफोन लिया तो टेक्नीशियन ने पूछा क्या सेटिंग करूं? सेटिंग के मामले में मैं अशिक्षित हूं. पापा-मम्मी पचास साल पहले जो सेटिंग करवा गये वह अभी तक चल रही है. मैंने उससे भोलेपन में कह दिया, तुमको जैसी ठीक लगे वैसी सेटिंग कर दो. मेरे और फोन के बीच टेक्नीशियन 'वह' जैसा था. फोन प्रश्न पूछता तो वह मुझसे पूछता. मैं उत्तर देता तो वह फोन में डाल देता.

पूरी गति से मैं खर्राटे भर रहा था और शायद ऊंची उठती अर्थव्यवस्था के सपने देख रहा था कि फोन टर्राने लगा. मैंने उसे उठाया तो वह चालू हो गया, अब पासवर्ड की ज़रूरत नहीं थी. मेरा डिजिटल चेहरा फ़ोन में दर्ज़ था जो फेस आईडी का काम कर रहा था. दनादन संदेश आ रहे थे. जो लोग मुझसे पहले उठकर सक्रिय हो गये थे उन्होंने डिजिटल कॉफ़ी भेज दी थी. धुआं उठ रहा था, ताज़ी काफ़ी के बुलबुले दिख रहे थे. डिजिटल कॉफ़ी पीने की स्वीकृति में मैंने करबद्ध वाली इमोजी भेज दी. किसी ने फूलों का बहुत सुंदर डिजिटल गुलदस्ता भेजा था, ग़ालिब के शेर को बेगम अख्तर ने आवाज़ दी थी पर तस्वीर 'उनकी' थी. उनका नाम भी था जो मैं आपको क्या, किसी को भी नहीं बताने वाला. उनकी तस्वीर डिजिटल थी, उनकी फ्लाईंग किस डिजिटल थी, उनकी भावनाएं डिजिटल थीं.

मैं हतप्रभ था, मेरी झिझक डिजिटल नहीं बन पा रही थी. मेरे चेहरे के उड़ते रंग डिजिटल नहीं हो पा रहे थे. अंततः मैंने डिजिटल साहस जुटाया और एक डिजिटल फूल उन्हें भेज दिया, उधर से दो डिजिटल फूल आ गये. मुझे बाद में पता चला कि डिजिटल प्रेयसी ने ऐसी ऑटोमेटिक सेटिंग कर रखी थी, शीरी का फोन स्वतः ही डिजिटल प्रेम का इज़हार कर सकता था. मैं फालतू ही वास्तविक फरहाद बन बैठा था. मन को डिजिटल प्रेम का मुआमला समझने में बहुत देर लगी.

आजकल मेरी सुबह डिजिटल होती है. मित्रों और निंदकों के डिजिटल उलाहनों से उबरने के लिए मैं प्रभुशरण ग्रुप पर आ

जाता हूं. प्रभु का दिव्य डिजिटल शृंगार हो चुका होता है. डिजिटल भोग देखकर मेरी जीभ और आत्मा दोनों प्रसन्न हो जाती हैं. मुझमें आसक्ति भाव जागे उसके पहले ही महाकाल 'लाइव' हो जाते हैं. शंखघोष के साथ डिजिटल भस्म आरती शुरू होती है. जन-गण-मन की तरह इस समय भी यथास्थान खड़े होकर महाकाल का सम्मान करने की प्रथा है तो मैं बिस्तर छोड़ कर खड़ा हो जाता हूं. डिजिटल भस्म लगाने का सात्विक आनंद आप असांस्कृतिक लोग क्या जाने! हम विदेशों में रहते हैं, चालीस-पचास साल पहले जो खालिस पवित्र संस्कृति हम भारत छोड़कर आये थे उसका डिजिटल संस्करण दिमाग़ में अब रच-बस गया है.

डिजिटल बाज़ार के बारे में क्या लिखूं. वे नेट पर डिजिटल आर्डर लेते हैं, डिजिटल भुगतान लेते हैं और धोखा भी डिजिटल देते हैं. कुछ मित्र कई फेक आईडी बना-बना कर डिजिटल दशानन हो गये हैं. यूं प्रति आईडी बस पांच हज़ार मित्र बनाने की छूट है पर उन्हें सारी दुनिया को मित्रता के जाल में लपेट कर 'लाइक' करना है.

डिजिटल जीवन में अभी नित्यकर्म जैसी बहुत सी अडिजिटल चीज़ें हैं. क्या मालूम बिल गेट्स और मार्क ज़करबर्ग को कभी प्राकृतिक कामों की ज़रूरत पड़ती भी है या नहीं, वे इनका कोई डिजिटल हल नहीं सोचते.

रेस्त्रां में बैठकर मैंने मनपसंद भौतिक नाश्ता किया. डिशों के नाम बताऊंगा तो आप रेसिपी पूछेंगे, रेसिपी बताऊंगा तो बहुत-सी युवा मित्र कुल कैलोरी पूछेंगी. इसलिए मुद्दे की बात बता देता हूं. डायट ऐप के अनुसार मैंने पांच सौ कैलोरी नाश्ता किया. अब स्टेशन से लोकल पकड़ने के लिए प्रवेश द्वार पर हूं. फोन टेप करता हूं तो डिजिटल टिकट देख कर द्वार खुल जाता है. यहां एक बार में एक ही यात्री घुस सकता है. भारत ने इस मामले में बहुत प्रगति की है, वहां इतनी देर में दस लोग घुस सकते हैं. सरकार नियंत्रण नहीं लगाये तो पंद्रह लोग भी घुस सकते हैं. मेरे सम्पादकजी ने यह वाक्य पढ़कर फोन किया और कहा कि हम तो बीस लोग भी घुस सकते हैं पर लोकल में लटकने की इतनी जगह नहीं रहती.

अपनी सीट पर बैठ कर मैं पुनः डिजिटल दुनिया से जुड़ जाता हूं. डिब्बे में मेरे आसपास कौन खड़ा है, कौन मेरी स्क्रीन में झांक कर जोक्स पढ़ रहा है, मुझे उनकी फिक्र नहीं है. अपने आसपास की दुनिया से नितांत कटकर अपनी डिजिटल दुनिया में रहने का सुख अवर्णनीय है. मैं हर दिन चार-छः लोगों को संवेदना संदेश भेजता हूं. डिजिटल संवेदनाओं का अच्छा खासा डेटाबेस है मेरे पास. कॉपी-पेस्ट करता हूं और क्लिक कर देता हूं.

एक आभासी मित्र के पिताश्री के निधन पर श्रद्धांजलियों का तांता लगा है. वहां चार लोगों ने उदासी वाली इमोजी लगायी है पर चार सौ से अधिक लोगों ने इस पोस्ट को 'लाइक' किया है. मृत्यु को भी डिजिटल रूप से पसंद करके लोग खुद को सहिष्णु समझते हैं. एक श्रद्धाजंलिदाता ने यहां हार्दिक बधाई का संदेश लिखा है.

डिजिटल युग में कॉपी-पेस्ट करना ज़रूरी है, गलत संदेश जा रहा है तो जाये, उसे वैसे भी कोई पढ़ने वाला नहीं है. जिस किसी भी निठल्ले ने कॉपी-पेस्ट की खोज की है उसका दिमाग चूमने को जी चाहता है. उसने सोशल मीडिया से लिंग भेद हटाने की कोशिश की है. कई फेसबुकिये अपनी डिजिटल बहनों के पेज पर भी हार्दिक बधाई भैया या शुक्रिया भाई के कमेंट धड़ल्ले से चिपका देते हैं. कभी कुछ मिनट वाई-फाई नहीं मिलता है तो अपने आसपास की वास्तविक दुनिया बड़ी डरावनी और घिनौनी लगती है. डिजिटल दुनिया स्वर्ग-सी है. यहां अप्सराओं के नृत्य हैं, गंधर्वों के सुर हैं, तानसेन की तानें हैं. इनके साथ हॉलीवुड, बॉलीवुड और डॉलीवुड की धमाचौकड़ी देखते-देखते मैं गंतव्य पर आराम से पहुंच जाता हूं.

ऑफिस के डिजिटल दरबान मेरे अंगूठे को जानते हैं. हॉल में अंदर आ जाने पर सुरक्षाकर्मी मुझ पर अपना डिजिटल डंडा घुमाते हैं और केवल अस्थि-मज्जा से बने मेरे शरीर की अभिपुष्टि कर लेते हैं. केबिन में पहुंच कर मैं लोगों के नम्बर कम्प्यूटर पर डालता हूं, उनका डिजिटल चरित्र और डिजिटल वैभव मेरे सामने होता है. मेरे लिए ये आंकड़े ही व्यक्ति हैं. मेरे सामने कई लोगों के आपराधिक जीवनवृत्त हैं, मुझे आदमी नहीं, आंकड़े देखना है और निर्णय लेना है. डिजिटल रिकॉर्ड्स के अलावा कुछ जानने में न मेरी रुचि है और न ही समय. मन के किसी अंधेरे कोने से कोई याद आ जाये तो मेरे पास उनकी डिजिटल स्मृतियां हैं. क्या हूं मैं? मेरी स्मृतियां, संवेदनाएं, बुद्धि, तर्क, दृष्टि सब डिजिटल हैं. अच्छा है मन और दिमाग अभी पूरी तरह डिजिटल नहीं हुए हैं, मुझ में कहीं आदमी शेष है. ❑

गणतंत्र

संविधान सभा की कार्रवाई समाप्त होने पर फिलाडेल्फिया की एक महिला ने बेंजामिन फ्रेंकलिन से पूछा, 'डॉक्टर, आखिर क्या मिला हमें, गणतंत्र या राजशाही?' बेंजामिन फ्रेंकलिन ने बिना किसी हिचकिचाहट के जवाब दिया था– 'गणतंत्र, बशर्ते तुम इसे संभालकर रख सको.'

ताड़-पत्रों पर निखरी कला

● निर्मला डोसी

सौंदर्य आंखों को हमेशा सुख देता है. भगवान ने सृष्टि की रचना करने में खुले हाथों सौंदर्य लुटा कर उसे सज्जित किया है. ऊंचे पहाड़, ढाढ़ें मारता समंदर, लहराती नदियां, कल-कल करते झरने, हरियाए पेड़-पौधे, खिले-खिले फूल पत्ते, ये तमाम कायनात की बेशकीमती नेमतें बिना भेद-भाव के सबको मिली हैं. आदमजात ऊपरवाले की सर्वोत्तम रचना है क्योंकि उसके पास सोचने के लिए दिमाग है. इस कारण मानव निरंतर विकास करता गया. प्राकृतिक उपादानों के प्रयोग से अनेक जीवनोपयोगी वस्तुएं बनायीं. खेती करके धान उपजाया और आग के प्रयोग से पका कर खाना सीखा अर्थात हर दिन विकास की एक और सीढ़ी चढ़ता चला गया. प्रकृति प्रदत्त फूल-पत्तों, वनस्पति से, औषधि, रंग, सजावटी व गृहउपयोगी चीज़ें बनायी.

हमारा देश श्रव्य व वाचक परम्परा का देश रहा. कथाएं, गीत, इतिहास इसी तरह पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होते चले गये. फिर उन्हें लिपिबद्ध करने व चित्रित करने की ज़रूरत हुई. कागज़ का आविष्कार तो बहुत बाद में हुआ था. तब ताड़ के पत्तों (पाम लीफ़) पर चित्र उकेर कर तथा लिख कर इतिहास को संरक्षित किया जाने लगा. भाषा के आविष्कार से पहले चित्रों के द्वारा कथ्य दर्शाया गया. बहुत बाद में शब्दों में लिखा गया.

यह 'लिखना' भी जो आज हम देखते हैं कागज़ कलम से, वो लिखना नहीं था. ताड़ के पत्तों पर खुदाई करके, उसमें रंग भर कर पांडुलिपियों को तराशा गया. कालांतर में वही काम विशिष्ट कला की श्रेणी में चिह्नित किया गया.

हज़ारों वर्षों पुराने ताड़पत्रों में संरक्षित, अनमोल ग्रंथ, दुर्लभ तस्वीरें, बेशकीमती धरोहर की तरह संग्रहालयों में सहेजे गये. इस कला को 'पॉम लीफ़ एचिंग' कहा गया. पारम्परिक कला प्रदर्शनियों में 'पॉम लीफ़ एचिंग' अक्सर दिख जाती है.

कई कलाएं बहुत मुखर होती हैं, वे हमें अपने पास खींच कर बुला लेती हैं, किंतु कई कलाएं बेहद शांत, शालीन होती है. जहां सजी होती हैं, उस स्थान को विचित्र आभा मंडित करती-सी प्रतीत होती हैं– किंतु उनके पास स्वयं हमें जाना पड़ता है. उसे परखना पड़तालना पड़ता है, फिर तो कला का अप्रतिम आकर्षण स्वयं हमें अपने पाश में बांध लेने में सक्षम होता है. 'पाम लीफ़ एचिंग' की कहानी भी कुछ ऐसी ही है.

नारायण दास उड़ीसा के पाम लीफ़ एचिंग के युवा कलाकार हैं. जिनके परिवार में पीढ़ियों से यह काम हो रहा है. उड़िया भाषा में 'तोलो' पट-चित्र को कहा जाता है. वे कहते हैं कि यह कला, जगन्नाथ मंदिर बनने से भी पहले से की जाती रही है. ताड़ के पत्तों पर खुदाई करने की कला को 'पाम लीफ़ एचिंग' कहते हैं.

गौरतलब यह कि वर्षों से यह कला ऊंचाई पर विराजी हुई है. उसे इस स्वरूप में लाने के लिए कितने प्रयोग व प्रयत्न हुए होंगे, सोच कर ताज्जुब होता है. साथ ही इंसानी हौसलों, धीरज तथा निष्ठा के लिए नतमस्तक होना ज़रूरी हो जाता है.

सबसे सुखद पक्ष यह है कि आधुनिक युग की तमाम साधन सुलभता के बावजूद यह कला बची हुई है, तो इसलिए कि संत प्रकृति के दुर्लभ कलाकारों द्वारा की जा रही है, नयी पीढ़ी को सिखायी जा रही है. कला-पारखी लोग इसे गृहसज्जा के लिए ऊंचे दाम चुका कर भी लेना चाहते हैं.

हमारे देश में ताड़ के पेड़ बहुतायत से होते हैं. इनके पत्ते खूब लम्बे और पतले होते हैं. पहले इन पत्तों को उतार कर कड़ी धूप में सुखाया जाता है. पत्तों को संरक्षित करने के लिए गर्मी व ठंड दोनों की ज़रूरत होती है. पत्तों के साइज तथा टेक्स्चर के हिसाब से छंटाई की जाती है, फिर सुखाया जाता है. उसके बाद इन पर हल्दी व नीम का तैयार किया गया मिश्रण लगाया जाता है, जिससे पत्ते मज़बूत व टिकाऊ हो जाते हैं और उनमें कभी कीड़े नहीं लगते. 100 पत्तों के लिए 200 ग्राम हल्दी व नीम के पत्तों को दो लीटर पानी में डाल कर पाम लीफ़ को डुबो देते हैं. इससे पत्तों पर पीला रंग आ जाता है.

नारायण दास बताते हैं कि बरसात का

मौसम शुरू होने से पहले ही पत्तों को उतारकर, सुखाकर, बंडल बांधकर, रखना ज़रूरी होता है. चूंकि पत्तों को ठंडा व गरम दोनों तापमान चाहिए तो पहले के ज़माने में इसका तरीका बड़ा दिलचस्प हुआ करता था. दोनों ही तापमान की उपलब्धता के लिए घर का रसोईघर सबसे उपयुक्त स्थान हुआ करता. दिन में खाना पकता तो खूब गरमी और रात में ठंड रहती. इसलिए बड़े-बड़े सूखे पत्तों के बंडल बनाकर रसोईघर की किसी दुछत्ती पर रख दिये जाते. साल दो साल वहीं पड़े रहने पर इन पत्तों पर एक विशेष परिवर्तन दिखता. पत्ते शुरू में सब एक से रंग के नहीं होते, किंतु इन पर दिन भर रसोईघर का धुंआ चढ़ता जाता तो सब पर सुंदर-सा पीला-भूरा रंग चढ़ जाता. यह तरीका पुराने समय का है, बाद में तो नीम-हल्दी के पानी से एक से रंग के पत्ते तैयार किये जाने लगे.

सूखे पत्तों को निकाल कर ज़रूरत के अनुसार नाप व आकार में काटा जाता है. हरड़-बहेड़ा, आंवला नीम का पत्ता, सरसों तेल को पानी में डालकर, उसमें पत्तों को उबाला जाता है. यह औषधीय प्रक्रिया है जिससे सदियों तक पत्ते खराब नहीं होते. फिर उन्हें खूब सुखाया जाता है. लम्बे-लम्बे पत्तों को आड़ी तरफ से सुई धागे से जोड़ा जाता है. इनकी चौड़ाई 22 इंच से ज़्यादा नहीं होती. लम्बाई ज़रूरत के मुताबिक ली जा सकती है. पाम लीफ़ आकार में खासे लम्बे होते हैं. जोड़ने में डबल पत्ते लिये जाते हैं. इस तरह जो डिजाइन बनाना हो उसके अनुसार लम्बा व चौड़ा कैनवास तैयार कर लिया जाता है. उस पर पेंसिल तथा स्केल की सहायता से चित्रांकन किया जाता है, ड्राइंग कह सकते हैं उसे. उसके बाद मूल काम जिसे खुदाई कहते हैं, वो शुरू होता है. जिसके लिए ये लोग एक छोटा-सा लोहे का औज़ार रखते हैं. उसके पीछे काठ का हत्था लगा होता है और आगे लोहे की नुकीली सलाई होती है जिसे 'लेखनी' कहते हैं. जिस थीम पर पेंसिल से चित्रांकन किया गया होता है, उसी को बड़ी नफासत से धीरे-धीरे तराशते हैं. जब खुदाई या तराशी का काम पूरा हो जाता है तो हाथ से बने काजल को पूरी कलाकृति या कैनवास पर लगा देते हैं. इस क्रिया को इनग्रोविंग कहा जाता है. जबकि खुदाई करने को इनवेविंग कहा जाता है. बाहर जो अतिरिक्त काजल लगा होता है उसे धोकर निकाल दिया जाता है तथा खुदे हुए स्थान के भीतर काजल जाकर बैठ जाता है.

ठेठ पारम्परिक तरीके से काजल बनाया जाता है. लेम्ब तथा कोलाम का तेल लिया जाता है. कोलाम सुपारी जैसी वनस्पति जंगलों में होती है, उसका तेल उड़ीसा के रघुराजपुर में मिलता है. पोलांग पेड़ के बीजों को पीस कर तेल निकालने

का चलन भी है. इन दोनों तेल से दीपक जला कर उसके ऊपर एक पात्र औंधा रख दिया जाता है. पात्र में दीपक की लौ से निकले धुंए की कालिख जमती जाती है. उसी कालिख में गोंद का पानी मिला कर काला रंग तैयार किया जाता है, जो इस कला का मुख्य उपादान होता है.

पाम लीफ़ एचिंग में काजल लगाने का ही चलन है. पिछले कुछ वर्षों से रंगों का प्रयोग भी होने लगा है. रंगों के लिए स्केच पेन काम में लेते हैं. आकृतियों का शृंगार भले विभिन्न रंगों से कर लिया जाए पर एचिंग के काम में आउटलाइन अनिवार्य रूप से काजल से ही काली की जाती है.

पाम लीफ़ एचिंग कला के कालजयी होने का मुख्य कारण है इसके विषय, यथा वेद, पुराण, गीतगोविंद, पंचतंत्र की कथाएं, लक्ष्मी पुराण, गरुड़ पुराण, हनुमान पुराण, कामसूत्र का चुनाव. दूसरा कारण है इतिहास को संरक्षित रखने का अद्‌भुत उपाय, जो कला तो है ही, आस्था भी है. उड़ीसा से जावा-सुमात्रा तक के यात्रा वृत्तांत को भी पाम लीफ़ एचिंग में दर्शाया गया है. इस रचना का नाम है– 'बोइयो बंधन'. इसके अतिरिक्त आदिवासियों की संस्कृति तीज, त्यौहार, नृत्य, वाद्य सब लिये गये हैं. दूसरी तरफ पंचांग, कुंडली, कार्ड, निमंत्रण-पत्र इत्यादि भी खूब बनते हैं.

नारायण दास ने अपने पीछे टंगे अनेक चित्र दिखाये. एक में महाभारत की समूची कथा, दूसरे में रामायण तथा तीसरे में कृष्णलीला चित्रित की गयी थी. हल्के रंगों के संयोजन से सभी कलाकृतियां बड़ी मनोरम बन पड़ी थीं. लम्बी कहानी कहनी हो, तो ये लोग एक-एक पत्ते पर काम करके फिर उसे तारतम्यता से जोड़ देते हैं. बड़ी कलाकृतियों के पीछे मोटा लाल सूती कपड़ा लगाते हैं ताकि वे दीवार पर ठीक से टंग सकें. कपड़े से सहारा मिल जाता है.

उन चित्रों को सावधानी से देखें परखें

पाम लीफ़ एचिंग के युवा कलाकार - नारायण दास

तो ताज्जुब होगा कि चित्र में उकेरे गये मानवीय चेहरों पर सटीक भाव-संप्रेषण हुआ है और उनकी आंगिक भंगिमाएं भी बड़ी खूबसूरती से उकेरी गयी हैं. पुरुषों का शारीरिक सौष्ठव व स्त्री चित्रों में कमनीयता चित्र को अद्‌भुत बना देती है. पशु-पक्षियों की सुगढ़ता कारीगर के हस्तकौशल को प्रकट कर देती है.

नारायण दास ने दीवार पर टंगी बेहद नफीस व महीन कारीगरी की तरफ इंगित करके बताया कि 'ये रामायण है. पूरी रामायण की कथा 22 इंच चौड़े व लगभग ढाई फुट लम्बे आकार के चित्र में बनी है. जहां राम-जन्म से लेकर अन्य तमाम घटनाओं का चित्रांकन गोलाकार में दर्शाया गया था और उस गोलाकार आकृति के चारों तरफ खूबसूरत महीन बेलें तथा बाउंड्री बनायी गयी थी. इसी तरह महाभारत की कथा भी थी. यह सिर्फ एक कला को जानना या बनाना भर नहीं है इसके लिए इतिहास, पुराण, समय, संस्कृति सभी को बहुत गहनता से समझना ज़रूरी है. उन चित्रों के दाम पूछने की हिमाकत मैं नहीं कर सकती थी पर उनके पीछे लगे टैग पर एक लाख से ऊपर ही लिखा दिख गया. एक बार ग्राहक को दाम ज़्यादा भले लगे, किंतु उसमें लगने वाला श्रम व समय जोड़ें, काम की बारीकी देखें, तो दांतों तले उंगली दबानी पड़ती है.'

ताड़ के पत्तों पर उकेरी गयी गीता, रामायण लोग अपने पूजाघर में रखना शुभ मानते हैं. बड़े-बड़े कारपोरेट हाउसों तथा घरों की दीवारों पर इस कला से सज्जा की जाती है.

नारायण दास बताते हैं कि एक कला रसिक ने उनसे पाम लीफ़ के 200 खूबसूरत डिब्बे बनावाये. जिनमें उसने अपने पुत्र की शादी का कार्ड व मिठाई वितरित की. नारायण दास ने ग्राहक के अनुमान से ज़्यादा भव्य चीज़ बनाकर दी. जिसमें एक रोल में ताड़ पत्र का ही बना खूबसूरत निमंत्रण पत्र लपेट कर रखा गया. यकीनन यह कलाकार की मौलिक सोच थी. मिठाई खाकर गत्ते के डिब्बे सभी फेंक देते हैं. यहां उस डिब्बे को सहेज कर उपयुक्त स्थान पर सजा कर रखा गया और उस पर किसी की नज़र न टिके, यह सम्भव ही नहीं था.

पाम लीफ़ एचिंग में अक्सर दो व्यक्ति साथ बैठ कर काम करते हैं– एक पारंगत कलाकार तथा दूसरा प्रशिक्षु. पारंगत फीगर बनाता है, आउटलाइन करता है. कार्विंग अर्थात इनवेविंग करता है. प्रशिक्षु उसके बाहर की भराई करता है. सीखते-सीखते वो भी पारंगत हो जाता है.

पाम लीफ़ एचिंग की पढ़ाई का कोर्स पांच वर्ष का है. उड़ीसा के रघुराज पुर में 700-800 परिवार यह काम करते हैं. पहले विद्यार्थी स्लेट पर सीखना शुरू करता है, फिर कागज़ पेन्सिल पर दो से ढाई वर्ष

में हाथ सध जाता है. तब कलाकृतियों की इनहेचिंग अर्थात खुदाई का अभ्यास करवाते हैं. स्केच शिक्षक बनाते हैं. वे उसमें भराई का काम करते हैं. कड़े अभ्यास से मास्टरी मिलती है. स्वयं नारायण दास ने भी पांच वर्ष तक काम सीखा था.

सभी के घर में 15-20 लड़के मास्टरों से सीखते हैं. नारायण दास के बड़े भाई अपने शिष्यों को पांडुलिपि लिखना सिखाते हैं. पांडुलिपि हिंदी व संस्कृत में लिखी जाती है. लिखी क्या जाती है इनहेचिंग की जाती है अर्थात खुदाई.

उन्होंने मुझे 700-800 वर्ष पुरानी पांडुलिपि दिखायी जो उड़िया भाषा में लिखी रामायण थी. लक्ष्मी पूजा के समय इन पवित्र ग्रंथों को भी पूजा जाता है.

दसवीं तक पढ़े नारायण दास अपने पैतृक काम को कर के पूरी तरह से संतुष्ट व खुश हैं. वे कहते हैं– 'बचपन से परिवार और गांव में चारों तरफ यही काम करते सबको देखा है और मुझे भी यही करना था. करने को दूसरा काम भी कर सकते थे. कोई दबाव नहीं था, किंतु संतोष व सम्मान दोनों ही जिसमें मिले, करना वही चाहिए.'

उनके पिता चंद्रशेखर दास को 1996 में पाम लीफ़ एचिंग में राष्ट्रीय पुरस्कार मिल चुका है. एक लम्बी कथा को कलाकृति में बड़ी ही खूबसूरती से उकेरा, उसमें स्टोन कलर भरे. स्टोन कलर बनाना प्रत्येक कलाकार को नहीं आता. पिता अकस्मात उनके बालपन में ही चल बसे, इसलिए वे भी रंग बनाने व रंग करने की दुर्लभ विद्या नहीं सीख पाये. अभी तीनों भाई इसी कला में डूबे हुए हैं.

नारायण दास कहते हैं कि ताड़ का पेड़ नारियल के पेड़ की तरह बहु-उपयोगी होता है. इससे निकलने वाला ताज़ा रस स्वास्थ्य के लिए बहुत उपयोगी होता है. उसी रस को चार से पांच दिन तक रख दिया जाए तो वह ताड़ी अर्थात देसी शराब बन जाता है. गौरतलब यह कि उनके इलाके में ताड़ी पीने का चलन है ही नहीं, और ठीक भी है यदि यही लत लगा बैठते तो स्वास्थ्य चौपट हो जाता और तपस्या जैसा कलाकर्म किस तरह होता. जबकि रघुराज पुर ऐसा गांव है जो पट चित्रकारी तथा पाम लीफ़ एचिंग के लिए ही जाना जाता है. पट चित्रकारी के ख्यातनाम कलाकार रविंद्र साहू ने यह बात लगभग दस वर्ष पहले साक्षात्कार के दौरान कही थी. दुर्भाग्य से वे कम उम्र में महाप्रयाण कर गये.

ताड़ पेड़ के फलों को खाया जाता है तथा छाल व पत्तों से चटाइयां बनती हैं. जंगलों से दूसरे लोग भी उन्हें ला कर पत्ते देते हैं. वे उसे संरक्षित करने के सारे उपाय करके बड़े-बड़े बंडल बनाकर साल भर काम चलता रहे इसलिए रख देते हैं.

उनके बड़े भाई बहुत पढ़े-लिखे हैं.

गुणी हैं. वे पांडुलिपि लिखाई करते हैं. वेद-पुराण इत्यादि पढ़ते रहना और उसे कला में उतारना खुद भी करते हैं तथा अपने शिष्यों को भी सिखाते हैं. भाई का नाम सत्य नारायण दास है.

हाथ में उठा कर देखें तो एक रामायण या महाभारत ग्रंथ का आकार बारह से चौदह इंच लम्बा व चार से छह इंच के पतले बंडल में बांधा जा सकता है. इससे छोटे आकार में भी बनता है. फिर पत्तों में वजन भी ज़्यादा नहीं होता. यातायात के साधन जब सुलभ नहीं थे, तो साधु संत पैदल ही विचरते थे. अपना सामान भी स्वयं उठा कर चला करते थे. पाम लीफ़ की पांडुलिपियां उठाने में बड़ी सुविधाजनक हुआ करती थी, उस पर उन्हें हाथ में थाम कर भी पढ़ा जा सकता है. पुरातन इतिहास को संरक्षित करने के लिए ताड़ पत्रों का प्रयोग हुआ होगा. भाषा, अक्षर, लिपि का ज्ञान नहीं था तो, चित्र उकेरे गये और स्थायित्व के लिए उनमें काजल भरा गया.

इस कला-कर्म में औरतों का पूरा सहयोग रहता है. पत्तों को शेप देना, काजल बनाना, फिर पत्तों को धागे से जोड़ना वे ही करती हैं. वैसे भी, यह पूरे परिवार का सम्मिलित काम है.

वार्ता के प्रारम्भ में मैंने रिकॉर्डर सेट किया तो नारायण दास बड़े संकोच से बोलने को राजी हुए. किंतु बाद में बड़े ही सुलझे हुए अंदाज़ में सब कुछ सिलसिलेवार बताते चले गये. कहीं भी झिझके नहीं, अटके भी नहीं, क्योंकि उनके पास अपने काम की पूरी व प्रामाणिक जानकारी थी, साथ ही वर्षों का अनुभव भी. उन्होंने ही बताया कि जो कलाकार इस फन में माहिर हो जाता है उसे 'महाराणा' का खिताब दिया जाता है. इसके लिए जात-पांत, धर्म नहीं देखा जाता, सिर्फ कलापटुता देखी जाती है. उनके यहां 'परम्परा' एक संगठन है, जो कलाकारों को पूरा सहयोग देता है.

यह काम केरल व असम में भी होता है और तकनीक भी एक जैसी है. केरल में इन पर औषधियों की पांडुलिपि लिखने का चलन था और असम तथा ओडिसा में चित्रांकन.

पुराने चित्रों में ऋषि-मुनियों के हाथ में इस तरह की पांडुलिपियां देखी थीं, या फिर संग्रहालयों में भी इन्हें देखा था. कभी-कभार किसी की जन्म-कुंडली भी ताड़ पत्र पर लिखी देखी होगी, किंतु इस कार्य का अतीत ऐसा भव्य और समृद्धिशाली होगा, यह इल्म नहीं था. यकीनन नारायण दास से मिल कर पाम लीफ़ एचिंग के बारे में विस्तार से जानकर बेहद संतोष हुआ. मेरी कला-यात्रा में निस्संदेह एक महत्वपूर्ण पायदान रहा यह साक्षात्कार. कलाकार की धीर-गम्भीर छवि और गहरे आत्मविश्वास के साथ कही गयी बात मैं नहीं भूलूंगी. ❑

पराजित कालिदास

महाकवि कालिदास एक दिन संध्या-भ्रमण करते हुए रास्ता भटक गये और उन्हें ज़ोर की प्यास लगी. उन्होंने एक वृद्धा की कुटिया का दरवाज़ा खटखटाया.

कालिदास – माते पानी पिला दीजिए.

स्त्री – बेटा, मैं तुम्हें जानती नहीं. अपना परिचय दो. मैं अवश्य पानी पिलाऊंगी.

कालिदास – मैं पथिक हूं.

स्त्री – तुम पथिक कैसे हो सकते हो, पथिक तो केवल दो ही हैं सूर्य और चंद्रमा, जो कभी रुकते नहीं हमेशा चलते रहते हैं. तुम इनमें से कौन हो?

कालिदास – मैं मेहमान हूं.

स्त्री – तुम मेहमान कैसे हो सकते हो? संसार में दो ही मेहमान हैं. पहला धन और दूसरा यौवन. इन्हें जाने में समय नहीं लगता.

'मैं सहनशील हूं. अब आप पानी पिला दें,' कालिदास ने अधीरता से कहा.

स्त्री – नहीं, सहनशील तो दो ही हैं. पहली, धरती जो पापी-पुण्यात्मा सबका बोझ सहती है. उसकी छाती चीरकर बीज बो देने से भी अनाज के भंडार देती है. दूसरे पेड़ जिनको पत्थर मारो फिर भी मीठे फल देते हैं. सच बताओ तुम कौन हो?

कालिदास (झल्लाकर) – 'मैं हठी हूं.'

स्त्री बोली – फिर असत्य. हठी तो दो ही हैं– पहला नख और दूसरा केश. कितना भी काटो बार-बार निकल आते हैं. सत्य कहें ब्राह्मण कौन हैं आप?

अपमानित और पराजित हो चुके कालिदास बोले, 'फिर तो मैं मूर्ख हूं.'

स्त्री – 'मूर्ख दो ही हैं. पहला राजा जो बिना योग्यता के भी सब पर शासन करता है' और 'दूसरा दरबारी पंडित जो राजा को प्रसन्न करने के लिए गलत बात भी सही सिद्ध करने की चेष्टा करता है.'

कालिदास वृद्धा के पैर पर गिर पड़े और पानी की याचना में गिड़गिड़ाने लगे.

वृद्धा – उठो वत्स! (आवाज़ सुनकर कालिदास ने ऊपर देखा तो साक्षात माता सरस्वती वहां खड़ी थी, कालिदास पुनः नतमस्तक हो गये)

माता ने कहा – शिक्षा से ज्ञान आता है न कि अहंकार. तूने शिक्षा के बल पर प्राप्त मान और प्रतिष्ठा को ही अपनी उपलब्धि मान लिया और अहंकार कर बैठे इसलिए मुझे ये स्वांग करना पड़ा.

दो ग़ज़लें

● ज़हीर कुरेशी

लोग अक्सर रतजगों वाली खुशी से ऊब जाते हैं,
समारोहों की जगमग ज़िंदगी से ऊब जाते हैं!

जो बनते भी हैं रिश्ते, स्वार्थ से आगे नहीं जाते,
हम आखिर इस तरह की दोस्ती से ऊब जाते हैं.

परस्पर हो बहुत कम बात करना या हो अनबोला,
जो पति-पत्नी हैं, वो रस्साकशी से ऊब जाते हैं.

कभी उसको भी इंग्लिश डांस की मस्ती लुभाती है,
कभी घुंघरू भी केवल 'कथकली' से ऊब जाते हैं!

वो 'जी हां' और 'जी हां' के अलावा कुछ नहीं कहता,
महल वाले भी ऐसे आदमी से ऊब जाते हैं.

दिखावे की सदी में हारने लगती है मौलिकता,
दिये अपनी पुरातन रोशनी से ऊब जाते हैं.

जो पंछी हैं, वो थक कर लौटने लगते हैं पेड़ों पर,
लोग अपनी अनवरत आवारगी से ऊब जाते हैं!

उदास रहने की इच्छा भी खत्म होती है,
खुशी से मिल के, निराशा भी खत्म होती है.

ये सोचना ही गलत है कि भाग जाने से,
कोई ज्वलंत समस्या भी खत्म होती है.

सुबह की पहली किरन फूटते ही... पूरब में,
अंधेरी रात की सत्ता भी खत्म होती है.

कभी-कभी तो मुखर वाक-युद्ध तक जाकर,
शरीफ़ लोगों की चर्चा भी खत्म होती है!

गरीब लोग सहन कर रहे हैं... बरसों से,
कभी तो सहने की सीमा भी खत्म होती है!

धारावाहिक उपन्यास

(नौवीं किस्त)

योगी अरविंद

● राजेंद्र मोहन भटनागर

बड़ौदा रियासत अपने समय की सबसे ख्याति प्राप्त रियासत रही है. महाराजा ने वहां विद्वान् और प्रशासक, प्रसिद्ध बैरिस्टर, प्रतिभावान् विद्यार्थी आदि को खूब प्रश्रय में रखा था. महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ स्वयं भी उदारमना, योग्य शासक और पारखी थे. उनके पास रहकर अरविंद ने महाराजा से अनेक गुण ग्रहण किये थे और महाराजा के बड़े दिल का लोहा भी माना था.

यदा कदा बड़ौदा में ज्ञानी, ध्यानी, योगी, अवधूत, कथावाचक, समाजसेवी आदि आते रहते थे. वे सभी का सत्कार करते थे. अरविंद 18 फरवरी, 1893 को बड़ौदा राज्य में नौकरी में आये थे. विभिन्न पदों पर उनकी परीक्षा हुई थी. महाराजा जानते थे आई.सी.एस. में आनेवाला युवक हर क्षेत्र में अपनी प्रतिभा और योग्यता की छाप छोड़ सकता है. देखना यह है कि वह क्या और कैसी छाप छोड़ता है? वहां रहते हुए वे राज-काज बड़े मनोयोग से देखते थे. परंतु यदा कदा प्राय: अवसर पाने पर वे कहीं और खो जाते थे, जिसके बारे में वे भी जान नहीं पाते थे, सिवा इसके कि उस अवस्था में उन्हें अद्भुत शांति मिली, चित्त कहीं गहरे में सबको भूलकर डूबा रहा.

प्राय: महाराजा उन्हें बुलाने लगे थे क्योंकि उन्होंने पाया था कि वे हर काम में जहां माहिर हैं, वहां वे चरित्रवान् भी हैं और निर्लोभी भी. वे शाम के छह बजे से अध्ययन, लेखन आदि के लिए बैठते थे और सुबह के छह बजे तक नहीं उठते थे.

कभी थकान नहीं, कभी हताश नहीं, कभी उदासीनता नहीं. हर क्षण स्फूर्त चित्त. कोई उनको निरंतर सचेत करता था, उनसे कहता था, उठ अरविंद, यह सोने का समय नहीं है.

जब वे कश्मीर में थे, तख्ते-सुलेमान पहाड़ी पर अकेले भ्रमण कर रहे थे और पतली हवा के झोंकों के साथ-साथ आगे बढ़ते जाते थे, तब भी उन्हें ऐसी अनोखी परंतु सशक्त अनुभूति हुई थी. पहले कोई एकांत हिमानी नद् के नीचे बहने वाली धारा-सा बहता रहा. फिर वह अदृश्य हो गया. अब न वहां नदी थी, न हिम था और न लघु प्रवाह. शांत ब्रह्म की दिव्य अनुभूति उनमें समा जाती और उनमें जड़ता हिम-सी पिघलने लगती. थोड़ी देर बाद ही वे अनुभव करते कि जिसे उन्होंने हिम पिघलना माना था, वहां हिम तो था ही नहीं फिर पिघलेगा क्या?

अरविंद को लगा कि वे भीगते जा रहे हैं पर वर्षा का तो नाम नहीं था. आसमान साफ़ था. फिर भी वर्षा थमने का नाम नहीं ले रही थी. यह क्या है?

कोई आवाज़ उन्हें छूकर पास से निकल जाती, हौले से वह पूछती जाती, ब्रह्म का नाम सुना है. ...सुना भी हो तो देखा नहीं होगा. तुझे उसका क्षणिक, आभास मात्र हो जाए तो क्या तू नंगे पांव उसकी तरफ भाग खड़ा होगा, बिना आगा-पीछा सोचे क्या इस समय? तू अस्तित्व शून्य का अनुभव कर रहा है?

'मुझे कुछ ज्ञात नहीं है.'

'नहीं जानता.'

'कह नहीं सकता.'

'यही गूंगे का गुड़ है जो न मीठा है, न खट्टा, न फीका, न तीखा. अनुभव से परे है– अनुभवातीत है.'

उनके साथ उनके इंग्लैंड के साथी बैरिस्टर केशवराव गणेश देशपांडे भी आये थे. वे बम्बई (मुम्बई) से आये थे. वह देशपांडे, जिनके आग्रह पर उन्होंने जीरो गुप्त के नाम से लेख लिखे थे, उनको नहीं ज्ञात पड़ा था कि देशपांडे उनके पीछे-पीछे चले आ रहे हैं.

अरविंद एक जगह रुक गये और चिनार के दरख्तों की कतार को मंत्रमुग्ध होकर देखते हुए शनैः शनैः सोचने लगे कि प्रकृति ने दोनों हाथों से दिल खोलकर अप्रतिम सौंदर्य, अद्‌भुत छटा और दूर-दूर तक शांति-ही-शांति के अजेय अनुभूति स्रोतों के हृदयोच्छ्‌वास को हिमाच्छादित शुभ्र धरिणी पर केसर गंध की तरह बहने दिया है. यहीं तो शंकराचार्य आये थे, यहीं तो उनको अलौकिक दिव्यता के आकर्षण ने बांधा था और कहा था कि जीवन का लोकोत्तर रूप यही है. जीवन का सौंदर्य यही है. जीवन का मंगल यही है. आज भी यह पहाड़ी शंकराचार्य की पहाड़ी के नाम से जानी जाती है. वाह तख्ते-सुलेमान! वाह शंकराचार्य की पहाड़ी! जीवन का कैसा

आख्यान अनकहे उड़ेले जा रहे हो.

'ठहरो, यायावर.'

'मैं तो ठहरा हुआ हूं.'

'तो यहीं ठहरे रहो– आगे एक कदम मत बढ़ाना. तुम जहां ठहरे हुए हो, उसके अगले कदम पर मृत्यु सुकुमारी खड़ी हुई तुम्हारा स्वागत करना चाहती है. सामने, नीचे की ओर देखो तो...'

अरविंद देखते तो देखते रह जाते. नीचे बहुत गहरी खाई. अगला कदम रखते ही उस खाई में, जहां से हड्डियों का भी चूरन बन जाए.

अरविंद ने एक कदम न पीछे किया और न आगे बढ़ाया. वे स्तब्ध देखते रह गये. स्मरण करने लगे सन् 1901 में घोड़ागाड़ी वाली घटना को जो दुर्घटना में बदलने वाली थी. वे असहाय थे. कुछ नहीं कर सकते थे. तब उन्हें किसने बचाया था? उन्होंने आंख मींच ली थी और सोच लिया था कि वे अब जीवन के विराम स्थल पर पहुंचने वाले हैं. परंतु ऐसा कुछ नहीं हुआ. उनका एक हाथ कांप रहा था. उनकी आंखों से होकर तेज पुंज गुजरा था. कोई अदृश्य शक्ति पल-भर के लिए पुच्छल तारे-सी तेज़ी से प्रकाशित होती हुई उनको छूकर निकल गयी थी.

ऐसा अरविंद के साथ तब भी हुआ था जबकि वे चारुचंद्र दत्त तथा उनके परिवार और कुछ साथियों के साथ थे. अचानक बादल आये और बिना पूर्व सूचना के धड़ाधड़ बरसने लगे. अब क्या करें? अचानक यह तय हुआ कि बादल और बिजली की गड़गड़ाहट के साथ शूटिंग हो जाए. एक ओर बिजली ज़ोरों से कड़के, दूसरी ओर बादल रह-रहकर गरजें और तीसरी ओर से धांय-धांय की गगनभेदी गूंज हो. कमाल का पार्श्व संगीत! कुतूहल-कुतूहल में यह सब हो गया. लक्ष्य-वेध तय किया जाता रहा. राइफल से निशाना साधता रहा. विजयोल्लास मनाया जाता रहा. गर्मागर्म पकौड़ों का आस्वाद महकता रहा.

अरविंद चुपचाप पकौड़ों की ओर देखकर, उनको तोड़ते थे, खट्टी-मीठी चटनी से लगाकर मुंह में रखते जा रहे थे. उनको इसमें भी कविता का आनंद आ रहा था. आस्वाद अनुभूति बनता जा रहा था.

आज सब कुछ अचानक हो रहा था. वर्षा अचानक. पकौड़े अचानक. शूटिंग अचानक. कहीं पास से सन्नाटा. एक या दो वाद्य यंत्रों के लिए संगीत की तैयारी अचानक. अचानक उनके मन में चौदह चरणों की सॉनेट की रिद्म का उदयाभास. और अब अचानक मिसेज दत्त का धीमे स्वर में यह प्रस्ताव, 'मि. घोष, आप भी निशाना लगाकर सद्यः जन्मे शूटिंग क्लब के सक्रिय सदस्य हो जाएं.'

चारुचंद्र दत्त की पत्नी की आवाज़ में जादू था, ठीक उनकी बड़ी-बड़ी आंखों और आजानु विलम्बित मेघ जैसे केशों की तरह, जिनमें गहरी चमक और पारदर्शी सुगंध

थी. वह कविता का भी शौक रखती थीं.

'मैं शूटिंग नहीं कर सकता, मिसेज दत्त.'

'क्यों नहीं कर सकते?'

'कभी की नहीं है.'

'हममें से हर एक ने पहला काम पहली बार ही किया है. आपने कभी नहीं सोचा होगा कि कभी आप 'मुक्ति कोन पथ' लिख सकेंगे?'

'वह बात और है.'

'वह तो सूक्ष्म बात है, यह तो स्थूल कार्य है. उससे कहीं आसान और मज़ेदार. सब शूटिंग कर रहे हैं, आप भी कीजिए. अधिक-से-अधिक यही तो होगा कि आप निशाना चूक जाएंगे. यहां कई निशानेबाज़ कई बार निशाना चूके हैं. फिर आप तो नौसिखिया हैं और हमारे आग्रह का मान रख रहे हैं. प्लीज़...' इसके साथ ही मिसेज़ चारुचंद्र दत्त ने घोषणा कर दी कि 'मिस्टर अरविंद घोष निशाना लगाने आ रहे हैं.'

तालियों की गड़गड़ाहट ज़ोरों से होने लगी. सबकी आंखों में चमक लहरायी. उनमें से एक दिलजले ने ताना मारा कि अब आया ऊंट पहाड़ के नीचे. बच्चू शायद पहली बार राइफल उठायेगा. राइफल चलाना कविता लिखना नहीं है.

'तू अरविंद को नहीं जानता. कुछ ऐसे महान् व्यक्ति होते हैं जो बहुत कुछ मां के गर्भ से सीखकर आते हैं, जैसे अभिमन्यु ने चक्रव्यूह में प्रवेश का ज्ञान प्राप्त किया था.'

'नाई-नाई बाल कितने, जजमान अभी सामने आते हैं. ...तू भी देख लेना क्या होता है.'

'लक्ष्य बदलना होगा.'

'क्यों मिसेज़ दत्त?'

'पहले तो बारह फीट की दूरी ज़्यादा है, दूसरे उस पर टंगी दियासलाई का श्याम वर्णीय सिरा. ...ना बाबा ना, अरविंद घोष से ऐसी उम्मीद नहीं करनी चाहिए. लक्ष्य नज़दीक का और सपाट होना चाहिए ताकि उन्हें प्रेरणा मिल सके और वे शायद इस क्षेत्र में भी धमाका कर दिखाएं.'

'नो, भाभी, नो. लक्ष्य-लक्ष्य है.'

'आप में से कितने कामयाब हुए हैं और कोई हुआ भी तो कितनी बार में, जबकि आप सब राइफल से निशाना लगाना बखूबी जानते हैं. हमें अपने नये सदस्य का सम्मान करना चाहिए और इसके लिए...'

'नो, भाभी, नो. वेरी सॉरी.'

'मैं यदि उन्हें न मना पाती तो.'

'अब तो आप उन्हें मना चुकी हैं और मि. अरविंद भी खड़े होकर सामने आ चुके हैं.'

मिसेज़ दत्त मन मानकर बैठ गयी. अरविंद चारुचंद्र दत्त के नज़दीक आकर मद्धिम स्वर में बोले, 'मि. दत्त, ज़रा मदद करो. राइफल चलाने की मुझे ए.बी.सी.डी. नहीं आती. इतना बता दो कि शूट करूं तो कैसे?'

चारुचंद्र दत्त ने राइफल के बारे में न केवल बताया बल्कि स्वयं राइफल चलाकर दिखा दी, एकदम नज़दीक से. हालांकि वह निशाना चूक गये.

अरविंद से किसने कहा था? शायद मिसेज़ दत्त ने ही कहा था कि वे अर्जुन का ध्यान करें. अर्जुन की तरह केवल चिड़िया की दायीं आंख पर अपनी निगाहें टिका दें. केवल दियासलाई का काला सिरा देखें. अब तक अरविंद की उंगली राइफल के घोड़े पर पहुंच चुकी थी और उनकी एक आंख दियासलाई के काले सिरे पर. वे एकदम शांत थे, स्थिर थे और निरुद्विग्न थे. उनके चेहरे के हाव-भाव निःशंक थे. तनिक-सी घबराहट नहीं थी उनमें. प्रो. प्रे. के स्वर उनके मनः आकाश में गूंज उठे थे, 'घोष, हर व्यक्ति हर चीज़ जानता है परंतु उसे इसका यकीन नहीं होता और इस कारण वह जानते हुए भी उसे नहीं जानता और डरने लगता है. डर ही अज्ञानता की पहली सीढ़ी है. ...कभी ऐसे संकट में फंस जाओ, तो इस फॉर्मूले का ध्यान करना इस विश्वास के साथ कि तुम जानते तो हो परंतु उस वक्त तुम्हें मन अकम्पित रखना है और समूचा ध्यान उस पर केंद्रित कर देना है जिसे जानते हुए, अनुभूत करना है.' अब क्या था, अरविंद ने दियासलाई के काले सिरे पर एक आंख जमायी और उंगली से घोड़ा दबाया. तेज़ आवाज़ हुई और निशाना अचूक बैठा.

मिसेज़ दत्त ने खड़े होकर करतल ध्वनि से अरविंद की सफलता पर प्रसन्नता प्रकट की. सभी ने उनका अनुकरण किया.

आनंद स्वरूप पटेल ने अपने मन की खीझ को दबाते हुए कहा, 'प्रत्येक को पांच-पांच राउंड चलाने को मिले हैं इसलिए प्रो. अरविंद भी शेष राउंड लगाएं.'

मिसेज़ दत्त नहीं चाहती थी कि अरविंद और राउंड लगाएं. उनके राइफल पकड़ने की शैली से ही यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता था कि उन्होंने राइफल को पहली मर्तबा हाथ लगाया है. अब कोई क्या कहता? अधिकांश नहीं चाहते थे कि अरविंद पुनः निशाना लगाएं. चारुचंद्र दत्त ने बात को मोड़ने के लिए कहा भी था, 'हैह क्षत्रियों की राजधानी नर्मदा के तट पर ही कहीं थी. कदाचित् वर्तमान मंडला या वहीं कहीं है.'

'पहले प्रोफेसर साहब निशाना लगा लें, फिर समय हुआ तो अतीत पर भी चर्चा कर सकते हैं.' आनंद स्वरूप पटेल का लक्ष्य अरविंद थे, क्योंकि वे पांच राउंड में से एक में ही सफल हो सके थे.

अरविंद के हाथ में अभी तक राइफल थी. लक्ष्य पुनः स्थिर कर दिया गया था. उन्होंने कोई प्रतिक्रिया नहीं दी. सबको शांत पाकर पुनः निशाना लगाया और पुनः तीली का सिर धड़ से अलग कर दिया. ऐसा उन्होंने तीन बार और किया और तीनों बार तीली का सिर काट दिया.

मेघ गर्जना हो उठी. सारा वातावरण अरविंदमय हो उठा. चारों ओर से उन्हें बधाई दी जाने लगी. वे संकोचवश कुछ कह नहीं सके और चुपचाप, स्वभावानुसार अपनी कुर्सी पर आ बैठे. मिसेज़ दत्त ने भाव विह्वल होकर गद्गद कंठ से कहा, 'आज के नायक आप हैं, प्रो. अरविंद! क्या निशाने लगाये हैं कि सब आश्चर्यचकित हैं. कृपया क्या आप इस पर कुछ कहने का कष्ट करेंगे कि आप हर बार निशाना लगाने में कैसे सफल रहे?'

आश्चर्य था कि वे किसी से कुछ नहीं लेते थे, फिर भोजनादि की व्यवस्था कहां से होती है? भंडारे के लिए रुपया कहां से आता है? पांच सौ गायों की गौशाला का प्रबंध कैसे होता है? यह कोई नहीं जानता था.

अब सबकी दृष्टि अरविंद पर थी. सबकी आंखें उनकी आंखों में झांकना चाह रही थीं. अरविंद ने बिना एक भी क्षण गंवाये कहना प्रारम्भ किया, 'मित्रो, सच में मैं नहीं जानता कि यह सब कैसे हुआ? मैं तो इतना कह सकता हूं कि...' अरविंद कुछ रुक गये. उनके सामने प्रो. ग्रे आ खड़ी हुई थीं. वे मुस्करा रही थीं. मानो वे अपने को न सुनाने का संकेत दे रही हों, उनकी मुस्कान से यह संदेश मिल रहा था. अरविंद ने आगे कहा, 'मनोयोग से किसी भी काम को हाथ लगाओगे तो फिर सफलता-असफलता का प्रश्न सामने नहीं रहेगा.'

अब वर्षा भी थम चुकी थी और सबके उठने का मन भी होने लगा था क्योंकि बादल अभी तक लदे हुए थे. लदे बादलों का क्या पता कि वे कब बरस पड़ें.

वे घोड़ागाड़ी पर सवार होकर चल पड़े. रास्ते-भर सोचते रहे कि यह कमाल कैसे हुआ? क्या उन्हें इसके लिए किसी को श्रेय देना चाहिए? मान लीजिए यदि वे सफल नहीं होते तो उससे बचने के लिए किसका सहारा लेते? मनुष्य को स्वप्न में भी वह कार्य नहीं करना चाहिए, जिस पर उसे विश्वास न हो. वे जब उठे थे, तब क्या उन्हें कोई संशय था. संशय से घिरे होते तो वे क्या राइफल संभाल पाते? क्या एक पल के लिए उन्होंने यह नहीं सोच लिया था कि एकाग्र मन, स्थिर दृष्टि और आत्मविश्वास अपनी जगह पर यथावत् हैं, तब वे अपनी परीक्षा लेकर क्यों न देखें? परिणाम पर उनकी दृष्टि कतई नहीं थी, लक्ष्य पर थी. दियासलाई का काला सिरा बादलों के घिरे होने और उनके बरसने से कम ही स्पष्ट नज़र आ रहा था. उन्होंने सोचा जब आंख पर पट्टी बंधे होने पर पृथ्वीराज चौहान मात्र ध्वनि संकेत से लक्ष्य बेंध सकते थे तब वह भी प्रयत्न तो कर ही सकते हैं.

इसी समय अरविंद ने निश्चय किया कि वे गंगनाथ मंदिर के महंत, योगी के

आश्रम भी जाएंगे. वास्तव में असोचे और अजूबे योगी के प्रति उनमें उत्सुकता बढ़ रही थी. उनका ध्यान उस विशेष शक्ति पर जाने लगा था, जिससे वे कार्य सम्पादित हो रहे थे, जो मनुष्य की सीमा से परे थे और किसी अदृश्य शक्ति की सत्ता को मानने के लिए विवश कर रहे थे. जीवन भी एक प्रयोगशाला है. जो जीवन को प्रयोगशाला मानकर आश्चर्यजनक सफल प्रयोग कर रहे हैं, उनसे मिलने और उनको जानने में संकोच क्यों?

अरविंद के चित्त पर आजानुबाहु गंगनाथ मंदिर के महंत अवधूत के तेजस्वी मुखमंडल का गहरा प्रभाव पड़ा. वे सोचने लगे कि महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ भी उनके पास आ चुके हैं. बैरिस्टर देशपांडे, सरदार मजूमदार आदि बड़ौदा रियासत के बड़े-छोटे अनेक अधिकारी वहां जाते रहते हैं. दूर-दूर से लोग उनकी ख्याति सुनकर आते हैं. आश्चर्य यह था कि वे किसी से कुछ नहीं लेते थे, फिर भोजनादि की व्यवस्था कहां से होती है? भंडारे के लिए रुपया कहां से आता है? पांच सौ गायों की गौशाला का प्रबंध कैसे होता है? यह कोई नहीं जानता था. अरविंद जब एक शाम को लक्ष्मी-विलास महल में महाराजा सयाजीराव के आमंत्रण पर आये थे तब अवधूत, योगी ब्रह्मानंद का ज़िक्र शुरू हो गया. महाराजा सयाजीराव ने कहा, 'गंगनाथ मंदिर का महंत अवधूत ब्रह्मानंद सिद्ध पुरुष है. वह योग-साधना में विख्यात साधक है. विद्वान् है. उसे सरस्वती सिद्ध है.'

देशपांडे अरविंद के पास लौट आये और उनसे पूछने लगे, 'मि. घोष, तुम्हारे मन पर कुछ प्रभाव बना क्या? मेरा मतलब स्वामी ब्रह्मानंद और काली मां की मूर्ति से है. एक सजीव और दूसरी निर्जीव.'

'इस समय मैं कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं कर सकता, देशपांडे. तत्काल कुछ कहना मुझे समीचीन नहीं लगता. इतना अवश्य है सजीव और निर्जीव के सम्बंध में हमें फिर से विचार करना पड़ सकता है.' अरविंद पैदल चलते हुए कहते जा रहे थे, बहुत धीरे-धीरे कह रहे थे मानो अपने आप से कह रहे हों. उनकी आंखों के सामने काली मां की सजीव आंखों का चित्र झूल रहा था. कलकत्ते में भी उन्होंने काली मां को देखा था परंतु यहां उसके जिस रूप के दर्शन किये, वे अद्भुत थे और उनकी पूर्व धारणा के पांव उखाड़ने वाले थे. उन्हें यह पक्का विश्वास हो गया था कि मां की पलक झपकती सजीव आंखों का उनमें से किसी को दर्शन नहीं हुए थे. योगी ब्रह्मानंद ने कैसे भविष्यवाणी कर दी थी कि नास्तिकता को शीघ्र ही आस्तिकता का प्रसाद मिलने वाला है. विश्वास देखने मात्र से नहीं, भीतर गहनानुभूति होने से जड़ पकड़ता है. उन्हें मां की सजीव आंखों के दर्शन हुए हैं. पर क्यों उनके साथ ऐसी अनोखी घटनाएं हो रही हैं? वे घोड़ागाड़ी

की दुर्घटना से बचे, तख्ते-सुलेमान पर भी यही हुआ, राइफल वाली घटना और अब एक साथ दो घटनाओं के संदर्भ प्रसंग किस ओर उनका ध्यान ले जा रहे हैं. क्या ईश्वर है? क्या उसकी असीम सत्ता है? वे जिस आवाज़ को सुनते आ रहे हैं, वह आवाज़ उनकी धारणाओं की नींव हिला रही है. महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ के व्यक्तिगत अनुभव क्या उन्हें एक सर्वथा नवीन दिशा की ओर से चलने का आमंत्रण नहीं दे रहे थे?

उनके चित्त में स्वामी रामकृष्ण परमहंस की अनसुनी आवाज़ अनुगूंज रही थी. वे कह रहे थे, 'अरविंद. यही प्रश्न लेकर नरेन (विवेकानंद) मेरे पास आया था, तब भी मैंने उसे काली मां के पास भेजा था–निर्जीव मूर्ति से दीक्षा लेने के लिए. तू भी स्वामी ब्रह्मानंद और मां काली के मंदिर से लौट रहा है, नरेन की-सी आस्था लिये. याद रखना अरविंद, जब ईश्वर हमारे में निवास करने लगता है तब हमारे सामने संसार नहीं बचता और इसके विपरीत जब हमारे सामने संसार फैला होता है तब हमारे सामने से ईश्वर के अस्तित्व का लोप हो जाता है. यह अब तुझे निश्चित करना है कि तुझे किसके साथ रहना है.'

अरविंद घर लौट आये थे. वे किसी निर्णय पर नहीं पहुंच पा रहे थे. उनको लग रहा था कि यह निर्णय भी उसे ही लेना होगा जो अब तक हर खतरनाक और रहस्यमय मोड़ से उन्हें बचाता ला रहा है.

●●●

एक बार जब अरविंद महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ के पास, लक्ष्मी-विलास महल में महाराजा के कक्ष में बैठे हुए थे और औद्योगिक प्रदर्शन में दिये जाने वाले भाषण पर उनकी प्रतिक्रिया सुनना चाह रहे थे, तब महाराजा ने प्रसिद्ध इतिहासकार सरदेसाई से कहा था, 'आप प्रो. अरविंद हैं. आपने ही यह भाषण लिखा है. पढ़ा तो आपने भी है. आप क्या सोचते हैं?'

सरदेसाई चक्कर में पड़ गये क्योंकि अब उनके पास कहने को कुछ नहीं था क्योंकि अरविंद के आने से पूर्व वे इसी भाषण के सम्बंध में कह चुके थे कि वह भाषण गजब का है. इसमें तथ्यों का तत्त्वपरक विश्लेषण हुआ है. इसमें औद्योगिक क्रांति के जीवनीय दर्शन को केंद्र में रखकर उसके सम्भावित खतरों की ओर स्पष्ट संकेत है.

'मि. देसाई, यह एक ऐसे आई.सी.एस. का लिखा भाषण है, जिसने अपनी देश की आज़ादी की खातिर जानबूझकर, बहुत सलीके से शाही नौकरी गंवा दी. तुम उनसे मिलना चाहोगे, देसाई?'

वही अरविंद सरदेसाई के सामने थे. सरदेसाई को पसोपेश में पड़ा देखकर स्वयं महाराजा कहने लगे, 'प्रोफेसर, क्या आप इसे महाराजा योग्य नहीं बना सकते?'

'क्या मतलब?'

'थोड़ा सरल, थोड़ा सहज– महाराजा जैसा लगने लगे.'

'क्यों नहीं कर सकता, महाराजा साहब, अवश्य कर सकता हूं परंतु उससे लाभ?'

'अरे भाई, इस तरह से हम उन लोगों में अनुभूत हो सकेंगे.'

'ऐसा नहीं होगा, महाराजा साहब, इसे चाहे जितना बदला जाए, चाहे जिस कोण से बदला जाए परंतु सुनने वाले तो यह समझे बिना नहीं रह सकेंगे कि इसे किसी और ने लिखा है. सच तो यह है मि. सरदेसाई, इस भाषण का भाव तथा चिंतन पक्ष बहुत कुछ महाराजा साहब का है, मात्र भाषा मेरी है. व्यक्ति शरीर से नहीं आत्मा से जीता है.' अरविंद ने सहज ढंग से आंखें झुकाये हुए धीरे-धीरे कहा. उनसे कभी ऑस्कर ब्राउनिंग ने कहा था, 'अरविंद, मैं तेरह वर्षों से आई.सी.एस. की परीक्षा की उत्तर पुस्तिकाएं देखता आ रहा हूं परंतु मैंने तुम्हारे जैसे परचे इससे पहले नहीं देखे. तुम्हारे निबंध की जितनी प्रशंसा की जाए, कम है. क्या गज़ब की शेक्सपियर और मिल्टन की मौलिक तुलना की है. गहन अर्थपूर्ण विवेचन, उनके अंतर्मन और उनकी आत्मा के संयोग-सृजन से उनके साहित्य से आत्म-साक्षात्कार कुछ इस तरह कराया है कि शेक्सपियर और मिल्टन भी आपके सामने आ खड़े हों तो वे आदर सहित और भावना से गद्गद होकर एक-दूसरे का स्वागत करते पाये जाएंगे.'

'सर, मैं तो भाषा का विद्यार्थी हूं.'

'और मैं भी अरविंद.'

'सर, आप तो अंग्रेज़ी साहित्य के आकाशदीप हैं.'

'यह भ्रांत धारणा है. सच यह है कि अध्यापक आजीवन विद्यार्थी ही रहता है.'

'यही आपका बड़प्पन है, सर.'

'नहीं, भाषा और साहित्य के प्रति खुद्दारी है. भाषा अंतर्प्रतीति है, सार्वभौम सत्य की प्रतीक है. इसलिए अस्ति थामे विद्यार्थी बने रहो अर्थात् सीखने की लालसा लगातार कायम रहे. माना कि शब्द प्रतीक मात्र हैं, तुम प्रयत्न करो तो वे प्रतीक स्वयं आत्मा के रूप में प्रकट हो सकते हैं. विद्यार्थी में आचार्य तत्त्व कैसे एकाकार हो जाता है.'

इस संदर्भ में आस्कर ब्राउनिंग के साथ स्वामी रामकृष्ण परमहंस भी सामने आ गये. स्वामी विवेकानंद उनके पास खड़े थे. परमहंस कह रहे थे, 'नरेन, तूने जो मंत्र जिया है, उसको प्रस्तुत कर दे.'

'मैंने कहां जिया है, गुरुदेव, वह भी आपने ही जिया है.'

'तू श्रेय से प्रेम का सम्बंध नहीं बनने देगा, पगला कहीं का. अरविंद, तुम भी गांठ बांधना चाहो तो बांध सकते हो,' मैंने कहा था, 'मुझे शक्कर का भोग करना है, शक्कर हो नहीं जाना.'

'कहां खो गये, प्रोफेसर?... हम मान गये हैं कि चेला चेला ही रहेगा, गुरु नहीं हो

सकता.' इतना कहते ही महाराजा स्वयं खिलखिलाकर हंस पड़े और वे दोनों भी.

'मि. सरदेसाई, प्रो. अरविंद के साथ रहने के अपने आनंद हैं. हम घोड़े पर सवार होकर सैर को निकल पड़े थे. रास्ते में आप भी मिल गये. हमारा संकेत पाकर साथ-साथ चलने लगे, कुछ फासले से. हमें एक बुढ़िया नज़र आयी जो गोबर की टोकरी के पास खड़ी थी. उनसे मदद मांगी. इससे पहले अरविंद यह लाभ उठा पाते हम घोड़े से उतरे और उसकी टोकरी को उसके सिर पर उठाकर रख दिया. वह बेचारी दुआएं देती चल पड़ी. हमने मुस्कराकर प्रोफेसर की ओर देखा. हमें हैरानी हुई यह देखकर कि वे हमारी ओर देखकर पहले से ही मुस्करा रहे थे. हमने उसका कारण पूछा तो जनाब का पता नहीं उत्तर था या प्रश्न.' आप कह रहे थे, 'मैं इस पसोपेश में हूं कि महाराजा को गरीबों का भार बढ़ाना चाहिए या उतारना.' फिर महाराज ने मुस्कराते हुए कहा था, 'कल दरबार आइए.'

'दूसरे दिन की भाग्यशाली सुबह. दरबार में हम भी हाज़िर हुए थे. वह बुढ़िया भी दरबार में उपस्थित थी, आंखें और गर्दन झुकाए, डरी हुई-सी मानो उसे किसी अज्ञात जुर्म के लिए सज़ा सुनाई जाने वाली हो. शायद उसके भय का एक कारण यह भी हो कि वह बुढ़िया सिंहासन पर विराजमान उस व्यक्ति को देख रही थी जिसने कल उसकी टोकरी उठायी थी. मैं भी इस अजीब दृश्य से हैरान हो रहा था. महाराजा ने उसका अता-पता लिया. उसके घर की हालत आदि की जानकारी लेकर आज्ञा सुनायी कि उस वृद्धा को राज्य से हर माह बीस रुपए दिये जाएं और उसका पक्का मकान बनवा दिया जाए. यह सब हुआ और वह भी आनन-फानन में. महाराजा साहब ने उसकी पूरी खोज-खबर रखी.'

जनता यह नहीं जानती कि स्वशासन अंग्रेज़ी शासन से कितना बेहतर होगा और उसके सामने नेताओं द्वारा परोसे गये सुख व समृद्धि के स्वप्न कहां तक पूर्ण हो पायेंगे?

अब महाराजा सयाजीराव गायकवाड मौन थे. वास्तव में अरविंद को उनसे और उनके यहां के गण्यमान्य सुयोग्य अधिकारियों से सीखने के अनेक अवसर मिले. वे राज-काज और राजधर्म को समझने लगे थे और वे अपने राज्य की अहमियत भी जान सके थे.

अरविंद ने अपना करणीय सुनिश्चित करने में तनिक-सी देर नहीं लगायी. उन्हें क्या और कब करना है, यह वे स्वयं तुरंत निर्णय ले लेते थे. जैसे ही उन्हें यह ज्ञात होने लगा कि महाराजा पर उनके कारण विपत्ति आ सकती है तो उन्होंने एक क्षण खोये बिना महाराजा के सामने अपना

इस्तीफा रख दिया. महाराजा के समझाने पर भी वे नहीं माने और इतना ही कहा कि सर्वहित में व्यक्तिगत हितों को छोड़ना ही व्यक्ति का धर्म है.

बड़ौदा छोड़कर कलकत्ते आये और कांग्रेस से जुड़े. कांग्रेस तो उनसे पहले ही प्रभावित थी. वे कांग्रेस के उग्रदल के साथ थे, जिसके नेता तिलक, लाला लाजपतराय आदि थे. नरमदल के नेता थे– फिरोज शाह मेहता, गोपाल कृष्ण गोखले, पं. मोतीलाल नेहरू, सुरेंद्रनाथ बैनर्जी आदि. उग्रदल लाला लाजपतराय को अध्यक्ष बनाये जाने के पक्ष में था और नरमदल रासबिहारी घोष को. दोनों दलों में तनातनी चली. स्वागताध्यक्ष त्रिभुवनदास मालवीय ने 26/12/07 की कार्यवाही इस विवाद के चलते ही समाप्त कर दी. 27 दिसम्बर को तिलक ने स्वागताध्यक्ष के पास कई बार अपना नाम कुछ कहने के लिए भेजा लेकिन प्रत्युत्तर नगण्य रहा. तिलक जबरदस्ती मंच पर चढ़े. माइक छीनकर बोलने लगे परंतु वहां चहुं ओर से इतना हो हल्ला होने लगा कि कुछ सुनाई नहीं पड़ रहा था. सिवा नरमदल के तेज़ विद्रोह के जो पुकार लगा रहा था, तिलक बैठ जाएं. परंतु तिलक एक ही स्वर से यह कहे जा रहे थे, 'कृपया शांत हों. मुझे भी अपनी बात कहने का अवसर प्रदान करें.' पर वहां कौन सुनता? सब तरफ से अनर्गल शोर सुनाई पड़ रहा था.

तिलक पहले बोले और उसके बाद अरविंद! अरविंद ने कहा था, 'मेरे स्वदेश में बंगालियों को विदेशी मत बनाओ.' उनमें पीड़ा उतर आयी थी और कलकत्ते से सूरत यात्रा जो उन्होंने रेल के तीसरी श्रेणी के कम्पार्टमेंट में की थी और पाया था कि जहां-जहां ट्रेन रुकती थी, उन-उन स्टेशनों पर अपार जनसमूह 'वंदे मातरम्' और 'भारत माता की जय' से गूंज उठता था. जनता अपने प्रिय नेता अरविंद की एक झलक पाने के लिए पागल हो उठी थी. अरविंद, 'वंदे मातरम्' के सम्पादक, हाथ जोड़कर जनता का अभिवादन स्वीकार करते हुए सोचते रह जाते थे कि उन्हें स्वराज्य उस जनता के लिए चाहिए जो आज़ादी की दीवानी हो उठी है और उसके लिए अपना सर्वस्व निछावर करने के लिए कृत संकल्प हो चली है. यह नहीं जानती कि स्वशासन अंग्रेज़ी शासन से कितना बेहतर होगा और उसके सामने नेताओं द्वारा परोसे गये सुख व समृद्धि के स्वप्न कहां तक पूर्ण हो पायेंगे? अरविंद जनता को डंके की चोट यह बता रहे थे कि किसी देश के ज़िंदा होने की पहचान है– स्वराज्य. उनकी अंग्रेज़ों और अंग्रेज़ी शासन से कोई शिकायत नहीं है. उनकी शिकायत मात्र यह है कि किसी देश पर किसी दूसरे का शासन नहीं होना चाहिए, यह उस देश की अस्मिता, उसकी सार्वभौमिक सत्ता और उसके अस्तित्व की आज़ादी का प्रश्न है.

हो यह भी सकता है कि अपना शासन विदेशी शासन से भी ज़्यादा तकलीफ़देह, अन्यायपूर्ण और अत्याचार करने वाला सिद्ध हो. अपने देशी रियासतों को उदाहरण के रूप में देखा-समझा जाना चाहिए– बस मात्र इसलिए भारत को स्वराज्य चाहिए. स्वराज्य किसी स्वतंत्र देश का स्वाभिमान है, गौरव है, आत्म सम्मान है और संकल्पित चरित्र है.

नरमदल यही तो नहीं चाह रहा. उसके नेताओं की चाहत है कि पहले भारत को उसी प्रकार का स्वशासन मिल जाए जैसे ब्रिटिश साम्राज्य के दूसरे देशों को मिला हुआ है. अर्थात् भारत की आज़ादी का पहला चरण औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त करने का था.

ऐसे मतभेद तो सन् 1906 के कांग्रेस अधिवेशन में भी आये थे और तब भी अध्यक्ष के चुनाव पर एक राय नहीं बन सकी थी और दादा भाई नौरोज़ी का नाम प्रस्तावित करना पड़ा था और वे निर्विरोध कांग्रेस के अध्यक्ष हुए थे. अन्यथा जो लड़ाई इस वक्त सामने है, ठीक उसके एक साल पहले भी वही बनी हुई थी. 27 दिसम्बर, 1907 को सूरत में मंच बेमंच बना था और नरम तथा गरमदल के समर्थकों के बीच कुर्सियां चली थीं. लाठियां बरसी थीं, गाली-गलौज जूतम पैज़ार आदि वह सब हुआ था जो शर्मनाक था. खून बहा था. पुलिस आयी थी. लेकिन कौन गरमदल का है और कौन नरमदल का यह पहचान कैसे कर पाती क्योंकि सब एक से थे अत: उसने सबको उस कुरुक्षेत्र से बाहर कर दिया.

अरविंद ने बिपिनचंद्र पाल का समर्थन किया था. सन् 1906 के कांग्रेस अधिवेशन में उन्होंने कहा था कि क्या साम्राज्य के अंदर स्वराज्य की मांग करना व्यावहारिक लक्ष्य हो सकता है? क्या इसकी मांग गैर-ज़रूरी और समय खोने वाली है. वे कहने लगे, 'लालाजी (लाजपतराय) नज़र नहीं आ रहे हैं, तिलक भाई? लगता है, वे फिसल गये हैं.'

'मुझे भी ऐसा ही लग रहा है कि वे हमारे साथ विश्वासघात कर गये हैं.' तिलक ने सोचते हुए कहा, 'ऐसा क्यों, अरविंद? अभी हमने स्वराज्य पाया भी नहीं है और अभी से भीतरघात की तैयारियों का अभ्यास शुरू कर दिया?'

'दाल में कुछ काला है.' अरविंद ने हंसते हुए कहा, 'हम यहां देश की आज़ादी की मंशा से एकत्र नहीं हुए हैं.'

'तो किसलिए हुए हैं.' मोतीलाल घोष पूछ रहे थे.

'आज़ादी के नाटक के लिए पूर्वाभ्यास करने हेतु.' अरविंद का संयत उत्तर था.

'अब क्या होगा?' तिलक ने चिंतित स्वर में सामने देखते हुए कहा.

'युद्धस्व विगतज्वर:' अरविंद ने तनिक मुस्कराकर उत्तर दिया.

इसी समय सुरेंद्रनाथ बैनर्जी, गोखले,

लालाजी, कृष्णा स्वामी अय्यर, फिरोज शाह मेहता, मदनमोहन मालवीय आदि ने प्रवेश किया. तिलक से यह दृश्य देखा नहीं गया. वे बोले, 'अरविंद, लालाजी तो उनके साथ हैं.'

'चिंता मत करो, लालाजी को अभी अंतिम तीर चलाना शेष है, वे इधर ही आ रहे हैं. ज़रा सावधान रहिए, वे आपसे ही अकेले में ले जाकर कुछ गुफ़्तगू करेंगे, मेरे से नहीं.'

'अब गुफ़्तगू करने को रह ही क्या गया है, अरविंद? सब कुछ तो चौड़े में है.'

'शायद उन्होंने धैर्य दिलाना आवश्यक समझा हो. आखिर शिष्टता का भी तकाज़ा है.'

'भाड़ में गयी ऐसी शिष्टता.' तिलक ने तेज़ी से कहा.

'उनकी सेहत पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ने वाला है, तिलक. आप अपना खून क्यों खौला रहे हैं? लगता है, तीर हाथ से निकल चुका है और हम 1906 वाले अधिवेशन के दौर से गुजरने वाले हैं.'

'ऐसा नहीं होने दूंगा.' तिलक ने तनिक तेज़ स्वर में कहा.

'हमें इंतज़ार रहेगा.'

'कुछ सोचो, अरविंद.'

'क्या सोचूं, यहां तो सारी बिसात पूर्व सोची हुई बिछायी गयी है.'

'हमारी आपसी लड़ाई का अंग्रेज़ लाभ उठाएंगे–फूट डालो और राज्य करो.'

'यह तो हर सत्ता का नीतिगत वाक्य है, तिलक. सत्ता के लिए अपनी पराई सत्ता का भेद नहीं होता.'

'फिर तो...'

'सच तो यह है कि इतिहास में जो चीज़ें निर्णायक होती हैं, उनके बारे में कदाचित् कोई नहीं जानता. वे यों ही चुपके से, सबकी आंख बचाकर हो जाती हैं. किसी को कानोंकान पता भी नहीं चलता और जब पता चलता है तब यकायक विश्वास नहीं होता.'

इसी समय लालाजी आ गये. अरविंद ने अपने सामने एक कागज़ खींच लिया और उनकी तरफ से ध्यान हटा दिया ताकि उन्हें तिलक से बात करने में परेशानी न हो.

वही हुआ. वे तिलक को अलग ले जाकर कुछ समझाने लगे. तिलक लौट आये. तिलक तो लाला लाजपतराय को सभापति बनाये जाने के पक्ष में थे. अरविंद तिलक के प्रस्ताव का अनुमोदन कर चुके थे.

दादा भाई नौरोज़ी को तो इसलिए ही आमंत्रित किया गया था कि उनके आने से ही कांग्रेस फूट से बच सकती थी. इक्यासी वर्षीय वयोवृद्ध नौरोज़ी को इंग्लैंड से भारत आना पड़ा. उस समय भी कांग्रेस के पुराने नेताओं पर संकट था और सन् 1907 में भी. इस समय एक ज्वाला तेज़ी से आसमान छूने को उद्यत हो उठी थी और वह भी

1857 की क्रांति की पचासवीं जयंती. इस बार अवश्य कुछ होकर रहेगा. वही कुछ तो अंग्रेज़ी सत्ता के लिए सब कुछ बनकर उभर रहा था.

अरविंद कह चुके थे, 'सन् 1857 के ठीक पहले लार्ड कनिंग ने भावी खतरे से सचेत कर दिया था लेकिन इस बार वे उसकी पुनरावृत्ति पर आंखें गड़ाये हुए थे. कांग्रेस का यह अधिवेशन सरकार इसी दृष्टि से देख रही है. ...सरकार ने मुस्लिम लीग की पीठ थपाथपा दी है. उधर शिवाजी, गणपति और काली के ज्वारभाटे ने मुसलमानों को भयत्रस्त कर दिया है. राजद्रोहात्मक सभा कानून का प्रयोग सरकार ने खुले मन से भारतीय स्वतंत्रता के अगुवाओं को बिना कारण बताये सींखचों के अंदर करने के दृष्टि से ही बनाया है.'

'ईंट का जवाब पत्थर से दिया जाए.' तिलक का गम्भीर स्वर उभरा.

'और सोचिएगा. जल्दी मत कीजिए.'

तभी एक स्वयंसेवक तिलक के हाथ में प्रस्ताव की प्रति थमाकर आगे बढ़ गया.

अरविंद मूक दर्शक बने हुए थे. तिलक चिल्ला रहे थे, 'विश्वासघात... विश्वासघात... धोखा.'

मोतीलाल नेहरू ने उस प्रस्ताव का समर्थन किया था. उस प्रस्ताव के अनुसार रासबिहारी घोष का नाम कांग्रेस के सभापति के लिए था, जो गरमदल को पसंद नहीं था.

सच तो यह है कि इतिहास में जो चीज़ें निर्णायक होती हैं, उनके बारे में कदाचित् कोई नहीं जानता. वे यों ही चुपके से, सबकी आंख बचाकर हो जाती हैं. किसी को कानोंकान पता भी नहीं चलता

अब क्या था– नाटक शुरू. रासबिहारी घोष बिना एक क्षण खोये सभापति के आसन पर आ विराजे. उधर तिलक व्यास पीठ पर पहुंचकर कह उठे, 'मुझे सभा स्थगित करने का प्रस्ताव करना है.'

तिलक मंच पर से अपनी बात कहते रहे कि रासबिहारी घोष सभापति नहीं हैं. उधर रासबिहारी घोष शांतचित्त हुए सभापति की कुर्सी पर बैठे रहे. वे कुछ नहीं बोले.

अरविंद समझ गये कि रासबिहारी घोष कांग्रेस के सभापति हो चुके हैं. इस चुनाव में जब इतनी आपाधापी है, तब स्वराज्य पाने पर राष्ट्रीय चरित्र का क्या होगा? उनका मन खिन्न हो उठा. साथ ही वे आश्वस्त भी हुए कि इससे दरिया का बढ़ने के लिए इतना उद्दाम जोश मिलेगा कि दरिया किनारों को ढहाते हुए दूर-दूर तक दस्तक देगा. सूरत अधिवेशन में कांग्रेस के भीतर का ज्वालामुखी उबलता हुआ बाहर आया. तिलक के नाम के जहां जयकारे गूंज रहे थे, वहीं रासबिहारी घोष के नाम के लिए मुर्दाबाद के नारे भी उसी जोश से सुनाई पड़ रहे थे.

दादा भाई नौरोज़ी के प्रति अरविंद विनम्र थे. नौरोज़ी ब्रिटिश पार्लियामेंट के सम्मानीय सदस्य थे और इंग्लैंड में ही रहते थे. इंग्लैंड में पढ़ते हुए वे कभी नौरोज़ी से नहीं मिल पाये थे. वे अनुभव कर रहे थे कि उनमें आत्म-शक्ति की कमी है. वे आत्मलोचन कर इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि देश का शिव तभी सम्भव है, जब आत्म-शक्ति परिपूर्ण हो. वस्तुतया वे क्रांति के दिन थे, और इस सोच के साथ थे कि कीर्ति, ठाट-बाट आदि को आने वाले कल में उखाड़ फेंका जा सकेगा. वे तिलक से कुछ कहकर नहीं लौटा सके. क्या कहें? क्या कहना ठीक रहेगा? जो हुआ उससे भी अवश्य कुछ-न-कुछ बनेगा? वे लाल, पाल और बाल की ध्वनि-प्रतिध्वनि सुनते रहे.

वे वहां से बड़ौदा पहुंचे. स्टेशन पर उनका भव्य स्वागत हुआ. 'वंदे मातरम्' 'भारत माता की जय' और अरविंद के जयनाद से सारा माहौल गूंजता रहा. उनमें उनके सैकड़ों विद्यार्थी वहां थे.

वे चकित रह गये जब स्टेशन के बाहर घोड़ागाड़ी सजी हुई देखी. हजूम-सा हजूम था बाहर. वे यह सब नापसंद करते थे.

वे क्या करें, क्या नहीं करें? यहां तक तो ठीक था कि विद्यार्थीगण घोड़ागाड़ी ले आये, लेकिन यह तो स्वीकारने योग्य नहीं था कि घोड़ेगाड़ी से घोड़ों को हटा दिया और उनके स्थान पर स्वयं जुत गये. उन पर फूलों की वर्षा हो रही थी. 'वंदे मातरम्' के नारों के साथ उनकी जय-जयकार हो रही थी. अब गाड़ी चल पड़ी थी. जुलूस आगे बढ़ने लगा था. हर्षोल्लास रोके नहीं रुक पा रहा था.

अरविंद ने उसी समय सुनिश्चित किया कि वे बड़ौदा में भूमिगत होकर रहेंगे क्योंकि लेले के साथ उन्हें आत्म-शक्ति के लिए समय व्यतीत करना है. योग धर्म से गुज़रना है. यदि उन्होंने ऐसा नहीं किया तो उनके वहां रुकने के मक़सद का कोई अर्थ नहीं निकलेगा. वे अर्थ का अनर्थ नहीं बनने देंगे.

अब जुलूस शहर के मुख्य बाज़ार से गुजर रहा था. जन मन हाथ जोड़कर उनका स्वागत-अभिवादन कर रहा था. वे अपनी जय-जयकार से अंदर-ही-अंदर घबरा उठे थे. अचानक जुलूस रुका. अरविंद ने देखा एक व्यक्ति हाथ में माला लिये उनकी ओर बढ़ आया है. उसके पीछे अन्य गणमान्य जन हैं. उन्होंने उनका स्वागत किया. जय-जय गान किया.

बड़ौदा छोड़े उन्हें समय हो रहा था. उन्होंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि जहां वे सेवा में रहे थे वहां उनका ऐसा भव्य स्वागत होगा. जनमत इस कदर उल्लसित हो उठेगा कि उनका विश्वास ही स्तब्ध रह जाएगा. वे यह किससे कहें कि उन्हें यह सब नहीं चाहिए. वे तो आज भी विद्यार्थी हैं और आजीवन बने रहेंगे. **(क्रमशः)**

क्योंकि कांटों को मुरझाने का खौफ़ नहीं होता

● डॉ. गरिमा संजय दुबे

जीवन की यात्रा के हर पड़ाव में कितने विरोधाभास हैं. हमारा जीवन ही क्यों, प्रकृति की हर शै विरोधाभासों से ही तो भरी पड़ी है. रचने वाले विधाता के मन में कौन से दो ध्रुव रहे होंगे जो उसने सबके विलोम रचे हैं. सोचिए विलोम न होता तो क्या होता. सब हरा होता धूसर न होता. मीठा ही होता कटु नहीं होता. खट्टा ही होता मीठा नहीं होता. जल ही होता शुष्कता न होती. बर्फीले ध्रुव ही होते तपते रेगिस्तान न होते. नदियां समंदर-झरने ही होते चट्टानें न होतीं. दिन ही दिन होता रात न होती. रौशनी ही रौशनी ही होती तिमिर न होता. बचपन ही होता बुढ़ापा न होता. सुंदरता होती बदसूरती न होती. कोमलता ही होती कठोरता न होती. अच्छा ही होता बुरा न होता. एक बहुत लम्बी सूची हो सकती है इसकी. अब एक और सवाल, क्या होता जो फूल ही फूल होते, कांटे न होते? अब पूछिए ऐसा भी क्या नकारात्मक विलोम का आकर्षण कि आप एक के बाद एक गिनती करवाये जा रही हैं. लेकिन क्या किया जाए जब किसी ऐसी जगह आप पहुंचे जहां फूल कम और कांटे अधिक हों और उन कांटों का सम्मोहन ऐसा कि दूर-दूर से लोग उन्हें देखने आयें. यही नहीं, राजपरिवार के एक राजा द्वारा उन कांटों

को सहेजा गया हो बड़ी नफ़ासत से. बड़े प्यार से. कांटों से इस प्रेम का रहस्य कुछ समझ नहीं आया. जी हां ऐसी ही एक जगह जाना हुआ. मध्य प्रदेश के रतलाम जिले के सैलाना कस्बे के कैक्टस गार्डन में. एशिया की सारी कैक्टस प्रजातियां यहां हैं.

कैसी अद्‌भुत तो गढ़न थी. और कितने प्रकार! एक बार फिर प्यार उमड़ आया प्रकृति के अपरिमित सौंदर्य बोध पर. एक पल को बच्चों-सी कल्पना उतर आयी मन में कि जब भगवान ने बहुत सुंदर सुंदर फूल बनाये होंगे और सब तरफ रंग बिरंगे फूल उनकी खुशबू और तारीफ़ गूंज रही होगी तो यह बेचारे कांटे और कंटीले पौधे अपने धूसर रंग और गंधहीन होने पर दुखी होते, रोते सुबकते विधाता के पास पहुंचे होंगे और उस उदार अवढर ने गोद में ले उन्हें पुचकारा होगा और अपनी तूलिका से इनमें भी रंग और सौंदर्य भर दिया होगा. साथ ही कह दिया होगा कि सामान्य नहीं हो तुम. कुछ विशेष आंखें ही पहचान पाएंगी तुम्हारे विशिष्ट सौंदर्य को. जाओ तुम 'एब्सट्रेक्ट' हो जाओ और तब से कैक्टस अपने एब्सट्रेक्ट सौंदर्य से एब्सट्रेक्ट अंखियों को लुभाते हैं.

कैसा होगा न जब ईश्वर ने समंदर बनाया तो उस असीम को हज़ार-हज़ार रत्नों से भर दिया लेकिन उसे खारा कर दिया. अनंत आकाश को विस्तार दे दुर्गम बना दिया. रेत के मीलों लम्बे रेगिस्तान बना धरती के उस भाग को बचा लिया. घने जंगल, दुर्गम हिमालय के रहस्यों सिद्धों चमत्कारों की भूमि. सोचिए ये सब न होते या सब सहज होते तो, यानी समंदर खारा न हो कर मीठा होता तो हमने गंगा की तरह उसे भी खत्म कर देना था. हिमालय दुर्गम न होता तो भौतिकवाद और हमारे लालच ने वहां भी बस्तियां बना लेनी थी. कैसी अद्‌भुत व्यवस्था है प्रकृति की जिसे सहेजा जाना है उसे दुर्गम, जटिल, भयावह बना दो तभी वह अपने अस्तित्व को बचा पायेगा. जो अनमोल है उसे थोड़ा अबूझ, थोड़ा असामान्य बना दो. उसके अंदर निहित विशिष्ट गुण केवल उसी दशा में बचे रहेंगे जब उसने अपने ऊपर कोई दुर्गम आवरण डाल रखा हो. क्या यह बात इंसानों और प्रतिभाओं पर लागू नहीं होती? कहते हैं प्रतिभा का अपना एक औदात्य होता है जिसे आम बोलचाल की भाषा में लोग ईगो या एटीट्यूड समझने की भूल कर बैठते हैं. बहुत अच्छे इंसानों में. बेहद प्रतिभावान मनुष्यों में एक अजीब-सी कठोरता, एक अजीब-सा खारापन. एक किसम का टेढ़ापन. या कोई एक ऐसी आदत होती है जो उन्हें दूसरों से थोड़ा दूर रखती है. या यूं कहूं कि वे स्वयं अपने आसपास एक घेरा बना लेते हैं ताकि हर कोई सहजता से उन्हें न पा सके. अपने अंदर के एब्सट्रेक्टपन को

बचाने के लिए कांटे ज़रूरी हैं. ठीक जैसे कि कैक्टस अपने शरीर पर कुछ कांटे उगा लेते हैं ताकि अपने अंदर की नमी सहेज सकें. क्यों हर गुणी चीज़ दुर्गम होती है. अब पता चला.

एक आम कस्बा जिसे यूं देखने पर कोई खास बात आपको पता नहीं चलती जब तक कि कोई आपको बता न दे कि यहां के राजमहल के एक गार्डन में एशिया में पाये जाने वाले कैक्टस की लगभग सभी प्रजातियां हैं. यूं तो कांटेदार पौधे और विशेष रूप से कैक्टस को घरों में नहीं रखा जाता लेकिन क्योंकर राजा दिग्विजय सिंह जी सैलाना को इन पर लाड़ उमड़ा कि पूरा एक बगीचा ही बनवा दिया. जिन मिट्टियों में ये पनपते हैं उस मिट्टी को भी विदेशों से मंगवाया गया. सबसे पुराने विशाल कैक्टस, जिसे देख किसी भयावह कंटीले राक्षस का आभास होता है और भय की सिहरन रीढ़ में दौड़ पड़ती है. को देखना रोमांचक था. एनीमेशन की दुनिया की तरह लगा कि अभी इसकी कोई दो विशाल शाखें हाथ बन हमें अपनी गिरफ्त में ले लेने को दौड़ पड़ें तो? कुछ कैक्टस को देख तो ऐसा लगा मानो किसी ने ढोल को सीधा खड़ा कर दिया हो. कहीं लगा किसी गृहिणी ने अभी अभी कैसरोल के पूरे सेट को मांज कर उल्टा सूखने के लिए रख दिया है और पीछे बड़ी प्यारी सी डिज़ाइन है. इतने गदराये पत्ते कि तोड़ो तो पानी की धार निकल पड़े. कहीं सीधे स्तम्भनुमा तो कहीं राह खोजो पहेली के उलझे रास्तों की तरह कोई सिरा न मिले. कहीं ऐसे छोटे-छोटे से नन्हे नन्हे रूप कि लगे कि मम्मा-पापा कैक्टस के दोपहर में सो जाने पर ये बेबी कैक्टस चुपके से बाहर खेलने निकले हों. कहीं लगे जैसे किसी बुजुर्ग की तरह किसी खूंटी पर टंगे फटे पुराने कोट की तरह अप्रासंगिक हो गया हो. कहीं टेबल टेनिस के बैट की तरह. कहीं नाग के फन की तरह, कहीं लम्बी पतली बंदर की पूंछ की तरह. एकटक देखने पर लगे सरसरा कर आपकी तरफ लपक पड़ेंगे और आप अनायास ही अपना पैर झटक दें और समझ आने पर खिसियानी हंसी से आस-पास देखने लगें कि किसी ने आपकी यह हरकत देखी तो नहीं. इन सबके बीच झांकता राजमहल अपूर्व रहस्यमयी सौंदर्य का चित्र रच देता है. ऐसा लगता है मानो अभी झरोखे से कोई राजकन्या या राजपुरुष झांकता-सा दिख जायेगा. क्या राजा ने अपनी प्रथम भेंट में कोमलांगी, दूसरे राज्य की राजकुमारी जो अब उनकी वामांगी थी, को कैक्टस तो भेंट नहीं किया होगा? कभी लगता अपनी बेटी को महारानी क्या कभी इस बाग में आने देती होंगी? राजाजी का इनसे प्रेम इतना था तो क्या किसी शरद पूर्णिमा की रात में वे अपनी प्रिया के साथ यहां बैठे होंगे? और क्या सौंदर्य होता

होगा दिवाली की रात्रि का जब पूरा महल जगमगाता होगा इन कैक्टस के बीच लगी रोशनियों से. सोच कर देखिए कैसा अद्‌भुत, अनोखा सोंदर्य होता होगा वहां.

किंतु ये कैक्टस लिप्त नहीं हैं. कहीं कोई प्रतिस्पर्धा नहीं. कहीं कोई इच्छा नहीं. कुछ साबित करने का प्रयास नहीं. अपने में ही मगन ये कैक्टस मुझे उन निर्लिप्त अघोरी योगियों- सिद्धों से जान पड़े जिनके सुदीर्घ तप ने उनके यौवन पर जटाओं का, उलझे रेशों का जाल बना लिया है. उन जटाओं और उलझे रेशों ने अनजाने ही उनमें एक अनूठा सौंदर्य और रहस्यमयी आकर्षण पैदा कर दिया है. और जैसे संसार के तमाम वैभव और सौंदर्य को देखने के बाद बैरागी मन कभी कभी उन रहस्मयी योगियों और उनके कौतुक को देखने दौड़ पड़ता है. ठीक वैसे ही फूलों की कोमलता, रंगों की अधिकता से, उनकी गंध से ऊबकर यदि मन उस खुरदुरे से स्पर्श, गंधहीन कटीले सौंदर्य को देख लेने को मचल उठे तो किम आश्चर्यम!

हरिवंश राय बच्चन ने तो कैक्टस के फूलों को रात में आसमान से गिरा तारा कह दिया था. देखने जायेंगे तो कैक्टस के फूलों की अपनी आभा है. और तो और कांटे भी इस कलात्मकता से गुंथे हुए हैं कि लगता है किसी फैशन डिज़ाइनर ने सितारे टांक दिये हों, कांटों की ऐसी गठन कि कुशल बुनकर भी चकमा खा जाये.

कभी उन्हें देख कर लगता है कि शिव ने जिस तरह और श्मशान की भस्म और सती का विलाप भभूत रूप में अपने ऊपर लगा अपने कर्पूर गौरं वर्ण को छुपा लिया था ठीक वैसे यह किसी बिछड़ी प्रेयसी का विरह है जिसे कैक्टस ने अपने ऊपर कांटों की तरह सजा लिया हो और उसका सौंदर्य छुपने के बजाय द्विगुणित हो गया हो. कौन जाने नागवंश के किसी राजकुमार ने प्रेमातुर हो अपनी प्रिया से बलात प्रेम पाना चाहा हो और उसने क्रोधित हो राजकुमार को शापित कर दिया हो कि जा अब किसी को अपने बाहुपाश में न ले पायेगा. सौंदर्यवान होते हुए भी कोई तुझे छुएगा नहीं. तेरी देह के समस्त रोम कांटों में बदल जाएं. और तब से यह नागफनी, यह वज्रकण्टका अपने प्रारब्ध को भोग रहा है. श्राप मुक्ति किस राजकुमारी की चरण रज से होगी पता नहीं. बच्चन के शब्दों में कैक्टस का फूल कहता है– 'किसी विवशता से खिलता हूं, खुलने की साध तो नहीं है; जग में अनजाना रह जाना, कोई अपराध तो नहीं है.'

तुम अनजाने नहीं रहे. पहचान लिये गये हो रुक्ष राजकुमार. तपते रेगिस्तान और बीहड़ों में भी कैक्टस रूपी राजकुमार का सौंदर्य अपनी मलंग भंगिमा से फल फूल रहा है. झूम रहा है. खूब फलो फूलो मलंग शहजादे. क्योंकि कांटों को मुरझाने का खौफ़ नहीं होता. ❑

वह पेड़

• ऋत्विक घटक

गांव - से कुछ दूरी पर एक छोटी नदी के तट पर ठोकर खा कर गिरा हुआ सा एक बरगद का पेड़ था. कहें तो पेड़ों की तुलना में वह कोई बहुत बड़ा पेड़ नहीं था.

बहुत ही पुराना पेड़ था वह, जड़ों को कीड़ों ने खा लिया था, पेड़ की डालियां भी सड़ गयीं थीं. विस्मृत हुई, सुदूर गुज़रे ज़माने में यही पेड़ तरोताज़ा था, किंतु आज वैसा नहीं है. वैसे किसी काम का नहीं था वह पेड़. सिर्फ गांव आने के रास्ते पर लोगों के लिए यह पेड़ एक पहचान के तौर पर माना जाता था, लोग जानते थे कि इसके बाद है, हारू लोहार का कारखाना, और उसके बाद असली गांव...

लेकिन, वर्ष में सिर्फ एक बार इस पेड़ की अहमियत बढ़ जाती. चड़क पूजा के समय उस पेड़ की कुछ जड़ों की शाखाओं को कुछ अनजान व्यक्ति तेल और सिंदूर लगाकर अत्यंत सुशोभित कर देते, दूर-दूर के कई गांवों से लोग भी आते थे. गांव का मैदान एक मेले में तब्दील हो जाता. तब उस पेड़ की छटा अचानक देखने लायक बन जाती. किंतु उसके बाद वह पेड़ पूरे वर्ष भर वैसा ही पड़ा रहता. आसपास पड़ी हुई ज़मीन पर गायें चरा करतीं, कभी-कभी सुदूर गांव से आया पथिक उसकी शीतल छाया में बैठ जाता, और पोटली खोलकर चिवड़ा-मुर्रा खाकर नदी का पानी पी कर फिर रवाना होता. चांदनी रात में वह पेड़ विशाल मैदान के तट पर अकेला अपने आंगन में अपूर्व आलौकिक सृष्टि उत्पन्न कर मस्त होकर परिवर्तनशील नदी के जल में ना जाने किसी रहस्यमय सपने में खो जाता.

साल की छह ऋतुएं अनवरत रूप से उस पेड़ के सिर के ऊपर से गुजर जातीं. नदी से जाती हुई नौकाएं पेड़ की छांव के झरोखों के छोटे-छोटे मुंहखानों से अजीब कौतूहल से उस पेड़ की ओर देखती थीं.

उस पेड़ की तलहटी छोटे बच्चों के लिए मौज-मस्ती की जगह थी. पुष्ट पेड़ की शाखाओं में बच्चे खेला करते, पेड़ की डालियों में चढ़कर छलांग लगाते, स्कूल से भागकर आ बैठते थे.

गांव के लोग बचपन से ही उस पेड़ के पास आते थे. गर्मी की दोपहरी में,

कोई कोई व्यक्ति उस पेड़ के नीचे, जहां पेड़ की जटाएं आपस में एकत्रित हों, एक सुंदर बैठने की जगह बनाकर, उस पर बैठकर नदी की विस्मय भरी कल-कल ध्वनि का आनंद लेते थे.

वहां के मछुआरे जानते थे कि उस पेड़ के किनारों की जड़ों के फांक फांक में मछलियां पायी जाती हैं– कई प्रकार की छोटी-बड़ी मछलियां. इसलिए उनके बच्चे जब कभी नहाने आते, तो गमछों को फेंककर मछलियां पकड़ते. कभी-कभी जाल फेंककर भी मछलियां पकड़ी जातीं.

गांव के बड़े बूढ़े भी उस पेड़ को जानते थे. वे लोग पेड़ के तने पर टेक लगा कर बैठे-बैठे देखते– बच्चों का खेल, बच्चों का मछलियां पकड़ना, और मन ही मन अपना सिर हिलाते. शायद अपने शैशव काल में खो जाते.

किंतु यह गांव वाले यही नहीं जान पाये कि इस बूढ़े बरगद के पेड़ की कितनी बड़ी जगह है उनके दिलों में. वो बस इतना ही सोचते थे कि यह तो सिर्फ बूढ़ा शिव-बरगद है. यह सदियों से यहां था और यहीं रहेगा. बस यही कहावत चरितार्थ थी– 'हारू लुहार के मोड़ पार, बूढ़ा शिव बरगद का झाड़'.

किंतु अचानक एक दिन बिना किसी सूचना के सरकार की एक नयी विचारधारा उपस्थित हुई. वर्तमान सरकार की व्यवस्था की नयी विचारधारा के तहत नदी को बढ़ा कर चौड़ा किया जायेगा. अतएव एक दिन ज़बरदस्त आपत्तियों के साथ बड़ा शोर करता हुआ वह बूढ़ा शिव बरगद ज़मीन पर गिर पड़ा. और नदी के दोनों किनारों को समान रूप से काटकर उस प्राचीन नदी को नयी नदी के रूप में परिणित किया गया.

सारा गांव अचानक जागृत हो उठा. उन्हें उस पेड़ की अहमियत समझ में आ गयी. हर किसी के मन में हलचल मच गयी. सभी ने मुहतोड़ आपत्ति जतायी.

किंतु उनकी यह आपत्ति बड़बड़ाने के बीच ही दबकर, सीमा-बद्ध होकर रह गयी. आखिर वह पेड़ गिर ही गया. ...उसके बाद गांव के लोग धीरे-धीरे उस बरगद के पेड़ को भूलने लगे. नये चेहरे, नये मकान, नये घर द्वार... सब कुछ नया नया. केवल, जब कभी गांव के वयोवृद्ध उस जगह से गुज़रते तब नदी का वह किनारा बड़ा नग्न-सा लगता था उनकी आंखों में. इसलिए वे लोग हाथ पैर हिला हिलाकर इस कहानी को नये लोगों को सुनाते थे. यही है उनके नव जागरण की कथा– किंतु वह भी कितने दिनों तक!

बरगद का वह पेड़, इतने दिनों तक लोगों को आश्रय देते देते आज लोगों के दिलों से भी निशब्द होकर विलुप्त हो गया.

(अनुवाद : मीता दास)

बड़े दिलवाला 'सरदार'

यह संयोग ही था कि जब राजधानी दिल्ली के कुछ चुनिंदा हिस्सों में साम्प्रदायिकता की चिनगारियां उठ रही थीं, मुझे एक किताब मिली– 'सरदार पटेल तथा भारतीय मुसलमान'. यह पुस्तक मैं पहले भी पढ़ चुका था. लगभग तीन दशक पहले स्वर्गीय रफीक ज़कारिया ने अंग्रेज़ी में लिखी थी यह किताब. डॉ. ज़करिया ने वह किताब मुझे भेजी थी और चाहा था कि पुस्तक के लोकार्पण समारोह में मैं उपस्थित रहूं. मुझे याद है तब मैंने इस पुस्तक का भारत की सभी भाषाओं में अनुवाद किये जाने की बात कही थी. पुस्तक के प्रकाशक, भारतीय विद्या भवन के निदेशक स्वर्गीय एस. रामकृष्णन ने मेरी बात का समर्थन करते हुए हिंदी अनुवाद का आश्वासन दिया. यह उसी अनुवाद का चौथा संस्करण है, जो मुझे दिल्ली के हाल के दंगों के दौरान मिला था. मैं फिर से इसे पढ़ गया, और सोच रहा हूं, देश के पहले गृहमंत्री सरदार पटेल ने विभाजन के उस दौर में हिंदू-मुसलमानों की एकता की महत्ता को कितनी शिद्दत से समझा था, और क्या-क्या नहीं किया उन्होंने दोनों के रिश्तों को मधुर बनाये रखने के लिए. मैं यह भी सोच रहा था कि उस दौरान, और उसके बाद भी, सरदार पटेल पर बहुसंख्यक हिंदुओं का पक्षधर होने के आरोप भी लगते रहे थे. डॉ. ज़करिया ने अपनी इस किताब में बड़ी दृढ़ता और स्पष्टता के साथ उन तथ्यों को सामने रखा है जो सरदार पटेल को हिंदुओं का समर्थक या मुसलमानों का विरोधी बताने वालों के लिए एक करारा जवाब है.
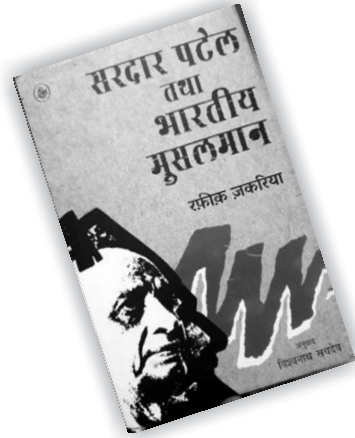
जब सरदार पटेल पर मुस्लिम-विरोधी होने के आरोप लग रहे थे, तो राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने कहा था, 'सरदार को मुसलमान-विरोधी कहना सच्चाई का उपहास उड़ाना है.' गांधीजी ने यह भी कहा था कि 'सरदार का दिल इतना बड़ा है कि उसमें सब समा सकते हैं.' स्वयं सरदार पटेल ने उस समय स्पष्ट शब्दों में

कहा था, 'हिंदू-मुसलमान एकता एक कोमल पौधे जैसी है. इसे हमें लंबी अवधि तक बड़े ध्यान से पालना होगा, क्योंकि हमारे दिल अभी उतने साफ नहीं हैं, जितने होने चाहिए'.

पुस्तक में ये शब्द पढ़ते हुए मैं ठिठक-सा गया. दिल्ली के कुछ इलाकों में जो इन दिनों घटा, वह सब मेरी आंखों के सामने आ गया. और मैं जैसे अपने आप से कह रहा था, आज़ादी हासिल करने के 73 साल बाद भी, एक पंथ-निरपेक्ष राष्ट्र की शपथ लेने के बाद भी, हमारे दिल उतने साफ क्यों नहीं हो पाये, जितने होने चाहिए थे? क्यों हम जब-तब साम्प्रदायिकता के शिकार हो जाते हैं? क्यों हम अपनी एकता के कोमल पौधे को प्यार से, ध्यान से नहीं पाल रहे? क्यों हमें झंडों के रंग याद रहते हैं और हम यह भूल जाते हैं कि सबके खून का रंग एक ही है?

यह सही है कि राजधानी दिल्ली में नफरत की आग को आपसी भाईचारे की भावना ने ज़्यादा फैलने नहीं दिया, पर लगभग पचास लोगों का मारा जाना, लगभग तीन सौ लोगों का घायल होना और सैंकड़ों दुकानों-घरों का जलाया जाना किसी भी दृष्टि से छोटी बात नहीं है. सच बात तो यह है कि साम्प्रदायिक दंगे में किसी एक भी भारतीय का मारा जाना भारत के उस विचार की हत्या की शर्मनाक कोशिश है, जिसे हम गंगा-जमुनी तहज़ीब वाली सभ्यता और वसुधैव कुटुम्बकम की संस्कृति की परिभाषा कहते हैं.

डॉ. ज़करिया की सरदार पटेल वाली पुस्तक की भूमिका में देश के जाने-माने वकील ननी पालखीवाला ने सत्ता के संघर्ष में क्षेत्रीयता, धर्म, जाति आदि के नाम पर राजनीति का खतरनाक खेल करने वालों को आगाह किया है कि भले ही इससे अल्पकालिक राजनीतिक लाभ मिल जाये, पर आगे चलकर पूरे देश को इसकी भारी कीमत चुकानी पड़ेगी. सच तो यह है कि अपनी नादानी से हम यह कीमत लगातार चुका रहे हैं. राजनीति के नाम पर जो कुछ देश में हो रहा है, वह किसी भी दृष्टि से देश के हित में नहीं है. धर्म और जाति के नाम पर वोट बैंक बनाने-मानने की मानसिकता को किसी भी दृष्टि से उचित नहीं ठहराया जा सकता और पिछले दिनों दिल्ली में जो कुछ हुआ, वह इसी मानसिकता का एक डराने वाला परिणाम है. डरानेवाला इसलिए कि न तो हम अबतक हुए साम्प्रदायिक दंगों से कुछ सीखे हैं और न ही कुछ सीखने की तैयारी दिख रही है.

उपद्रवों की पहल किसने की, भड़काया किसने, पुलिस की भूमिका का औचित्य कैसे सिद्ध होगा, कौन अपने राजनीतिक स्वार्थों की रोटियां सेक रहा है जैसे सवाल उठाये जा रहे हैं. राजनेता आरोपों-प्रत्यारोपों की एक होड़ में लगे हैं. समझने की बात

यह है कि ऐसी कोई भी होड़ वैयक्तिक अथवा दलीय स्वार्थों की पूर्ति में भले ही सहायक बनती दिखती हो, पर इस सब में राष्ट्र तो घाटे में ही रहेगा. और यह ऐसा घाटा है जिसकी पूर्ति सम्भव नहीं है.

साम्प्रदायिकता की यह राजनीति औचित्य की किसी भी शर्त को पूरा नहीं करती. यह विध्वंस की राजनीति है. हमारे संविधान-निर्माताओं ने, जिनमें सरदार पटेल की विशिष्ट भूमिका रही, बहुत सोच-समझकर सर्व धर्म समभाव की नीति अपनायी थी. जिन्ना ने भले ही धर्म के नाम पर बंटवारा करवाया हो, पर हमारे नेताओं ने कभी नहीं स्वीकारा कि देश हिंदू राष्ट्र बनाया जाये– सबने एक ऐसे राष्ट्र का सपना देखा था, जिसमें सब धर्मों के फूल खिल सकें, जो हर भारतीय का देश हो.

आज सरदार पटेल को हिंदुओं का हित-चिंतक बताने की कोशिशें हो रही हैं. वे सबके हित-चिंतक थे. उन्होंने स्पष्ट कहा था, 'भारत में हिंदू राज की बात करना एक पागलपन है, इससे भारत की आत्मा मर जायेगी'. उन्होंने यह सिर्फ कहा ही नहीं, इस बात की ईमानदार कोशिश भी की कि भारत की जनता इस 'पागलपन' से बचे. जिन्ना के उपदेशों को ग़लत सिद्ध करने को उन्होंने अपनी 'पहली समस्या' बताया था और कहा था, 'भारत के मुसलमान सुरक्षित और स्वतंत्र रहें, यह देखना हमारा काम है.'

सवाल सिर्फ मुसलमानों की स्वतंत्रता-सुरक्षा का नहीं था, हर भारतीय की सुरक्षा का था. हमारा संविधान हर भारतीय की स्वतंत्रता-सुरक्षा की गारंटी देता है. पर इस गारंटी का औचित्य तभी है जब हर भारतीय दूसरे भारतीय की सुरक्षा-स्वतंत्रता-प्रगति के प्रति चिंतित हो. जब हम सब स्वयं को पहले भारतीय समझें, फिर कुछ और. इस संदर्भ में संविधान सभा में सरदार पटेल की भूमिका हमारा मार्गदर्शन कर सकती है. डॉ. ज़करिया की पुस्तक में इसकी विस्तार से चर्चा है. सरदार ने संविधान सभा में कहा था, 'अल्पसंख्यकों के लिए इससे बेहतर और कुछ नहीं हो सकता कि वे बहुसंख्यकों की समझदारी व निष्कपटता पर भरोसा करें. अल्पसंख्यकों की भावनाओं को समझने का दायित्व हम बहुसंख्यकों पर है और यह कल्पना करने का भी कि यदि हमारे साथ वैसा व्यवहार होता जो उनके साथ हो रहा है तो हमें कैसा लगता.'

हमें यह भी नहीं भूलना है कि संविधान की धारा 25 में धर्म के 'प्रसार' की बात जुड़वाने के लिए सरदार पटेल ने अपनी प्रतिष्ठा व प्रभाव दांव पर लगा दिया था. और यह सब याद करने और याद रखने का मतलब यही है कि हम साम्प्रदायिकता के ज़हर से बचने की ईमानदार कोशिश करें. देश के हर नागरिक को भारतीय समझें. तभी देश बचेगा, हम बचेंगे. ❑

विपत्ति के पाले विवेक को ऊंचे पायदान पर चढ़ा दिया

● रफ़ीक़ ज़करिया

आंतत: मैं पंचायत समितियों, नगरपालिकाओं से लेकर राज्य विधानसभाओं व संसद के दोनों सदनों में मुसलमानों के लिए पृथक् मताधिकार के प्रश्न पर आता हूं. इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मुसलमानों को लगता था कि उनके उचित प्रतिनिधित्व की यह एकमात्र गारंटी है, और कुल मिलाकर हिंदू यह समझते थे कि दोनों को पृथक् रखने का यह एक चतुर तरीका है. प्रारम्भ में संविधान सभा ने यह स्वीकार किया कि सिखों, मुसलमानों समेत अल्पसंख्यकों तथा परिगणित जातियों को संयुक्त निर्वाचन में सीटों का आरक्षण दिया जाना चाहिए. यह विभाजन से एक माह पूर्व जुलाई 1947 की बात है. विभाजन के परिणामों ने अधिसंख्य सदस्यों का पूरा दृष्टिकोण ही बदल दिया. उन्हें आशंका हुई कि ऐसा आरक्षण भी धर्मनिरपेक्षता की जड़ों पर वार करेगा. इस प्रश्न पर फिर से विचार करने के लिए सरदार पटेल की अध्यक्षता में एक उपसमिति का गठन किया गया; अब मुसलमानों की अपेक्षा सिख कहीं अधिक ज़ोर-शोर से पृथक निर्वाचन की मांग कर रहे थे.

समिति की पहली ही बैठक में डॉ. आंबेडकर ने इस प्रश्न को फिर से उठाने पर आपत्ति की, पर अध्यक्ष सरदार पटेल ने उनकी आपत्ति को अस्वीकार कर दिया.

11 मई, 1949 को हुई अगली बैठक में, मौलाना आज़ाद की सलाह पर राष्ट्रवादी मुसलमानों ने मुसलमानों के लिए पृथक मताधिकार के प्रस्ताव को रद्द करने का प्रस्ताव रखा, लीग की तरफ से बेगम ऐजाज़ रसूल ने इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया. आश्चर्य की बात तो यह थी कि उन्होंने हिंदुओं के संयुक्त मोर्चे की अच्छाइयों का बड़ी कुशलता के साथ प्रतिपादन किया. मुसलमानों के इस बदले हुए रुख से सिख आश्चर्य में पड़ गये. अपनी मांग रखने के लिए वे मुसलमानों के रुख पर निर्भर कर रहे थे. इसलिए विपक्ष में कोई आवाज़ नहीं उठी. इस सारी कार्रवाई के दौरान पटेल चुप ही रहे. यह तो नहीं पता कि पटेल ने इस संदर्भ में आज़ाद से कोई बातचीत की थी अथवा नहीं, पर मुसलमानों

के रुख में अचानक आये इस परिवर्तन का श्रेय आज़ाद को ही जाता है. सरदार ने संतोष जताते हुए कार्रवाई समाप्त की, उन्हें इस बात की प्रसन्नता थी कि अल्पसंख्यकों के लिए पृथक मताधिकार की समाप्ति के मुद्दे पर सब एकमत थे.

संविधान सभा में समिति की सर्वसम्मत रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए सरदार ने हिंदुओं को आगाह किया कि यह वह पवित्र विश्वास है जो अल्पसंख्यकों ने उनमें व्यक्त किया है और हिंदुओं का दायित्व है कि वे इस बात का ध्यान रखें कि इसका पूरा पालन हो. उन्होंने यह चेतावनी भी दी कि 'असंतुष्ट अल्पसंख्यक बोझ और खतरा होते हैं, अत: हमें ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए जिससे अल्पसंख्यकों की उचित भावनाओं को ठेस पहुंचे.' उन्होंने कहा, 'यह बहुसंख्यक समुदाय का दायित्व है कि अपनी उदारता से वह अल्पसंख्यकों में विश्वास की भावना पैदा करे. इसी तरह अल्पसंख्यक समुदायों का भी यह दायित्व है कि वे अतीत को भुला दें एवं इस बारे में विचार करें कि विदेशी शासकों ने समुदायों के बीच संतुलन बनाये रखने के लिए जिस (कथित) 'निष्पक्षता की भावना' को आवश्यक समझा था, उससे देश का कितना अहित हुआ है.' उन्हें इस बात की प्रसन्नता थी कि अल्पसंख्यक इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं– उन्होंने उम्मीद की थी कि बदली परिस्थितियों में एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की वास्तविक व निष्कपट आधारशिला रखना प्रत्येक के हित में है. बदलते घटनाक्रम से नेहरू बहुत प्रसन्न थे. उन्होंने कहा, 'यह हम सबके लिए निष्ठा का प्रश्न है, और सबसे ऊपर बहुसंख्यक समुदाय की निष्ठा का प्रश्न है, क्योंकि इसके बाद उन्हें यह दिखाना है कि वे अन्य के प्रति उदार, उचित एवं न्यायपूर्ण व्यवहार कर सकते हैं. आइए, हम इस निष्ठा की कसौटी पर खरे उतरें.'

संविधान के अंतर्गत होने वाले प्रथम आम चुनाव से लगभग दो वर्ष पूर्व 15 दिसम्बर, 1950 को सरदार का निधन हो गया. वे अपनी ज़बान ने पक्के थे और उन्हें यह देखकर अवश्य पीड़ा होती कि उनके सहधर्मावलम्बियों ने इस विश्वास का सम्मान नहीं किया. हिंदू राष्ट्रवादियों द्वारा स्वातंत्र्य-संग्राम के दौरान किया गया यह दावा, कि अल्पसंख्यकों के लिए पृथक् मताधिकार की समाप्ति से एक व्यापक, गैर-साम्प्रदायिक राजनीतिक वातावरण का निर्माण होगा, पहली ही परीक्षा में झूठा साबित हो गया. लोकसभा के लिए बाद के चुनावों में स्थिति सुधरी नहीं. विभिन्न राज्यों की विधानसभाओं के चुनावों से स्पष्ट होता है कि स्थिति बिगड़ी ही थी. जिला परिषदों, पंचायत समितियों, नगरपालिकाओं के चुनावों में तो हिंदू साम्प्रदायिक व जातीय मुद्दे ने मुसलमान उम्मीदवारों के भाग्य के साथ

खिलवाड़ ही किया– अनेक स्थानों पर एक भी मुसलमान उम्मीदवार निर्वाचित नहीं हो पाया.

इसका अर्थ यह नहीं है कि सरदार मुसलमानों एवं अन्य अल्पसंख्यकों की पहचान बनाये रखने के विरुद्ध थे; इसके विपरीत तीन मुद्दों पर, जो अल्पसंख्यकों के लिए अत्यधिक महत्त्व के थे, हिंदुओं के दबाव के बावजूद सरदार उनके पक्ष में खड़े रहे. ये मुद्दे थे– (1) धर्म के प्रचार का अधिकार, (2) भाषा, लिपि एवं संस्कृति की रक्षा का अधिकार तथा (3) शैक्षणिक संस्थाएं चलाने का अधिकार. अल्पसंख्यकों एवं मूलभूत अधिकारों के लिए गठित सलाहकार समिति के अध्यक्ष के नाते ये सारे मुद्दे सीधे सरदार पटेल के अंतर्गत आते थे. इन विषयों पर, विशेषकर गैर-हिंदुओं को धर्म-प्रचार का अधिकार देने के बारे में समिति के सदस्यों में काफी तीखी बहस हुई थी. ईसाई व मुसलमान सदस्य इस बात पर अड़े हुए थे– उनका कहना था कि यह उनके धर्म का महत्त्वपूर्ण अंग है. लेकिन हिंदू इसके कट्टर विरोधी थे. उनका कहना था कि कांग्रेस के 1931 के कराची अधिवेशन में भी, जिसके सरदार अध्यक्ष थे, 'नागरिकों को अपने धर्म में स्वतंत्रतापूर्वक विश्वास प्रकट करने व उसके पालन के अधिकार' की ही गारंटी दी गयी थी, धर्म-प्रसार की नहीं. सरदार के दो निकट सहयोगियों, के.एम. मुंशी व पुरुषोत्तमदास टंडन ने यह शब्द जोड़ने का तीव्र विरोध किया था. ईसाई एवं मुसलमान सदस्य इस बात पर ज़ोर दे रहे थे कि धर्म-प्रसार उनके लिए निष्ठा का प्रश्न है.

जैसा कि उनका स्वभाव था, सरदार ने दोनों पक्षों के सदस्यों की बात को धैर्यपूर्वक सुना, पर अपनी कोई राय नहीं दी. इस बीच अल्पसंख्यक सदस्यों के एक प्रतिनिधिमंडल ने नेहरू से भेंट कर धर्म-प्रसार के अपने अधिकार की बात कही. नेहरू ने विश्वास व्यक्त किया था कि पटेल अल्पसंख्यकों की भावनाओं को अधिक समझेंगे एवं उनके अनुरूप कार्रवाई करेंगे. तीव्र विरोध के बावजूद संविधान की धारा 25 में 'प्रसार' शब्द जुड़वाने के लिए पटेल ने अपनी प्रतिष्ठा व प्रभाव को दांव पर लगा दिया. इसी तरह सरदार पटेल के सतत आग्रह के कारण ही संविधान सभा ने धारा 29 और 30 पारित की, जिनमें अल्पसंख्यकों को अपनी 'पृथक् भाषा, लिपि व संस्कृति' की रक्षा तथा 'अपने शैक्षणिक संस्थान स्थापित करने व चलाने' का अधिकार दिया गया था. यह खेद की बात है कि भारत में धर्मनिरपेक्षता को मज़बूत बनाने के लिए किये गये सरदार के इस योगदान का उचित मूल्यांकन नहीं हुआ है. इन प्रावधानों को संविधान में सम्मिलित कराने के लिए यदि पटेल ने अपनी पूरी ताकत न लगायी होती तो सम्भव

था अल्पसंख्यक भारत में अपनी पहचान उस तरह सुरक्षित न रख पाते, जैसे आज सुरक्षित रखे हुए हैं.

अपने जीवन के अंतिम वर्ष में पटेल ने इस बात का एक और उदाहरण दिया कि वे मुसलमान-विरोधी नहीं थे. मद्रास उच्च न्यायालय के जस्टिस बशीर अहमद को भारत सरकार ने मद्रास उच्च न्यायालय का स्थायी न्यायाधीश प्रस्तावित किया था. उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश कानिया ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया. जब वह फाइल प्रधानमंत्री नेहरू के पास पहुंची तो वे गुस्से में आ गये. उन्होंने गृहमंत्री पटेल को, जिनके अंतर्गत ये नियुक्तियां आती थीं, कानिया के व्यवहार की आलोचना करते हुए एक टिप्पणी भेजी. क्रुद्ध नेहरू ने पटेल से पूछा था, 'क्या इस तरह गलत व्यवहार करने वाला व्यक्ति भारत की न्यायपालिका का मुखिया होने लायक है?'

उसी दिन पटेल ने नेहरू को उत्तर भेज दिया था जिसमें उन्होंने बताया था कि उन्होंने गृह सचिव एच.वी.आर. अयंगार को निर्देश दे दिये हैं कि कानिया के विरोध की अवहेलना करते हुए जस्टिस बशीर अहमद की नियुक्ति कर दी जाए. उन्होंने लिखा था कि 'मुख्य न्यायाधीश कानिया ने इस प्रश्न पर जो रुख अपनाया है उसके बारे में वे नेहरू के विचारों से सहमत हैं.'

समाजवादी विचारक डॉ. राममनोहर लोहिया ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'गिल्टी मैन ऑफ इंडियास पार्टीशन' में लिखा है, 'राजनीतिक प्रेरणा की दृष्टि से सरदार पटेल निस्संदेह उतने ही हिंदू थे जितने मौलाना आज़ाद मुसलमान.' पर आज़ाद अपनी भावनाओं को छिपा सकते थे; अपनी बात पर अड़ने के बजाय उन्होंने पीड़ा भोगी. जैसा कि हमने देखा है, पटेल अक्सर कड़वा सच बोल देते थे, शब्दों को घुमा-फिराकर कहने का उनका स्वभाव नहीं था. वे अपनी भावनाएं न छिपा सकते थे, न छिपाते थे. पर उनकी राष्ट्रभक्ति पर कोई विवाद नहीं हो सकता. उनका राष्ट्रवाद काफी व्यापक था. उसमें संकुचित जाति व वंश की संकुचित भावनाओं के लिए कोई स्थान नहीं था. जयप्रकाश नारायण को उनके बारे में अपना विचार बदलना पड़ा था. सरदार की मृत्यु के कुछ माह पूर्व एक बार फिर साम्प्रदायिक समस्या ने सिर उठाया था. इस बार बिलकुल भिन्न संदर्भ था, जिसमें पटेल अनायास ही उलझ गये. मुसलमान-विरोधी विचारों वाले पुरुषोत्तमदास टंडन ने कांग्रेस अध्यक्ष-पद का चुनाव लड़ने का निर्णय किया था और नेहरू को लगा था कि इससे हिंदू साम्प्रदायिक ताकतों को बढ़ावा मिलेगा.

8 अगस्त, 1950 को नेहरू ने टंडन को पत्र लिखा, जिसकी एक प्रति उन्होंने पटेल को भी भेजी थी. पत्र में नेहरू ने

लिखा, 'भारत की बहुत-सी प्रमुख समस्याएं हैं. इनमें से आज जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, वह है साम्प्रदायिकता के खिलाफ़ लड़ाई. मैं देख रहा हूं कि यह साम्प्रदायिक भावना भारत में बढ़ती-फैलती जा रही है. मैं जानता हूं कि पाकिस्तान में जो कुछ हुआ है, भारत में उसकी प्रतिक्रिया ही हो रही है. पर यह एक आंशिक स्पष्टीकरण है और इससे बात नहीं बनती. इसके फलस्वरूप हमारी जनता की समूची असहनशीलता, क्षुद्रता एवं संकुचित मनोवृत्ति उभरकर सामने आ गयी है और मुझे भय है कि यदि हम इसी तरह सोचते व कार्य करते रहे तो भारत कभी प्रगति नहीं कर सकता.' नेहरू ने दिल्ली में हुए शरणार्थी सम्मेलन की टंडन द्वारा की गयी अध्यक्षता का स्पष्ट उल्लेख करते हुए पत्र में लिखा था, (उस सम्मेलन में) 'अभिव्यक्त किये गये विचार मुझे अत्यधिक असहिष्णु, साम्प्रदायिक तथा अव्यावहारिक लगे हैं.'

नेहरू के इस पत्र का तत्काल उत्तर देते हुए टंडन ने अपने पर लगाये गये साम्प्रदायिकता के आरोप का खंडन किया. 12 अगस्त, 1950 के इस पत्र में उन्होंने लिखा था, 'जब आप साम्प्रदायिकता की बात करते हैं तो स्पष्ट है आपके मन में हिंदू-मुस्लिम का प्रश्न घुमड़ रहा होता है. आप अपने प्रांत के उस राजनीतिक सम्मेलन में उपस्थित थे जब मैंने लगभग डेढ़ घंटे का अध्यक्षीय भाषण दिया था. तब मैंने सामान्य रूप से हिंदू-मुस्लिम के प्रश्न पर एवं विशेषकर दोनों समुदायों के बीच सांस्कृतिक सम्बंधों पर बड़ी स्पष्टता से अपने विचार रखे थे. मेरे उन विचारों में कभी कोई परिवर्तन नहीं आया. मैं किसी इस्लामी संस्कृति अथवा हिंदू संस्कृति को नहीं मानता. मैं यह भी नहीं मानता कि विश्व में कोई ऐसा ग्रंथ है जिसमें मनुष्य के कैसा होने के संदर्भ में अंतिम बात कह दी गयी हो. राजनीति में मेरी प्रमुख मान्यता है अपरिहार्य एवं आवश्यक विभेदों को उचित सीमाओं में रखते हुए देश की एकता बनाये रखना. मैंने हिंदू-मुस्लिम विवाहों की खुली वकालत की है और आप जानते हैं कि जातीय रूढ़िवादिता की मेरे जीवन में कोई भूमिका नहीं रही. इसलिए मुझे आश्चर्य हो रहा है कि आपने मुझे साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से कैसे जोड़ा.'

पटेल ने नेहरू के पत्र का उत्तर अगले ही दिन दे दिया था. टंडन के उत्तर से तीन दिन पहले. 9 अगस्त, 1950 को लिखे इस पत्र में पटेल ने नेहरू को सुझाव दिया था कि उन्हें टंडन को समझाने का प्रयास करना चाहिए.

इस दुर्भाग्यपूर्ण प्रकरण में आश्चर्य की बात यह थी कि जहां रफी अहमद किदवई और मृदुला साराभाई बड़ी सक्रियता से नेहरू को प्रभावित कर रहे थे, वहीं पक्के धर्मनिरपेक्ष माने जाने वाले आज़ाद व

राजाजी पटेल के साथ थे. चुनाव में टंडन विजयी रहे, कृपलानी की पराजय से नेहरू इतने दुखी हुए कि उन्होंने प्रधानमंत्री पद से त्यागपत्र देने का प्रस्ताव रखा. पर तूफ़ान गुज़र गया. पटेल ने राजाजी व आज़ाद को मनाया कि वे नेहरू व टंडन में समझौता कराएं. टंडन की अध्यक्षता में हुए कांग्रेस के नासिक सम्मेलन में पटेल ने इस बात का पूरा ध्यान रखा कि साम्प्रदायिकता के मुद्दे समेत नेहरू द्वारा तैयार किये गये सभी प्रस्ताव एकमत से स्वीकृत हों. फिर भी कुछ निकट मित्रों ने पटेल को सुझाव दिया था कि उन्हें चाहिए कि नेहरू को त्यागपत्र देने दें, व प्रधानमंत्री पद स्वयं संभाल लें. उन्होंने पटेल को आश्वासन दिया था कि कांग्रेस पार्टी उनके साथ है. इस बात पर पटेल ज़ोर से हंसे थे और उन्होंने कहा था, 'आप ठीक कह रहे हैं, पार्टी मेरे साथ है, पर जनता उनके साथ है.'

इसके कुछ ही अर्सा बाद 15 दिसम्बर, 1950 को सरदार का मुम्बई में देहांत हो गया. लोकसभा में सरदार को हृदयस्पर्शी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए नेहरू ने पटेल के साथ अपने दीर्घ सम्बंधों को याद किया था और उन्हें 'एक ऐसा मित्र व सहयोगी' कहा था 'जिस पर हमेशा भरोसा किया जा सकता था.' नेहरू के शब्दों में पटेल 'स्वतंत्रता संग्राम के दौरान और विजय के क्षणों में हमारी शक्तियों के एक महान नायक थे... डगमगाते दिलों के लिए एक शक्ति-केंद्र थे.' आज़ाद ने भी अपने जीवन भर के उस साथी की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी जिसकी बहादुरी 'पहाड़ों जितनी ऊंची थी' और जिसका दृढ़ निश्चय 'इस्पात जैसा मज़बूत था.'

भारतीय मुसलमानों के प्रति सरदार के रुख के बारे में अंतिम निर्णय, इस संदर्भ में हम सबसे बेहतर निर्णायक निर्णय, गांधी जी का था. उनका सारा जीवन हिंदुओं और मुसलमानों के बीच खड़ी दीवारों को ढहाने में ही बीता था. उन्होंने कहा था, 'मैं सरदार को जानता हूं हिंदू-मुस्लिम के सवाल पर, और अन्य कई सवालों के बारे में भी, उनके सोच और मेरे व नेहरू के सोच में अंतर है. पर उनके सोच को मुसलमान विरोधी कहना सच्चाई को नकारना होगा. सरदार का दिल इतना बड़ा है कि उसमें सब समा सकते हैं.'

लेकिन यह भी सही है कि धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा से पटेल मोहित नहीं थे. धर्म को कम आंकने वाली इसकी पाश्चात्य व्याख्या उन्हें पसंद नहीं थी. पटेल अति धार्मिक व्यक्ति भले ही नहीं थे, पर अपनी हिंदू परम्परा का उन्हें अभिमान था. पर अपने गुरु की तरह ही उनका हिंदुत्व भी संकुचित नहीं था; वे अन्य धर्मों का सम्मान करते थे तथा राष्ट्र के सामाजिक चरित्र से उनका कोई झगड़ा नहीं था. पर उसे मुख्य धारा में संगति बिठानी होगी,

अल्पसंख्यकों को समझना ही होगा कि वे इसका अविभाज्य अंग हैं. वे अल्पसंख्यकों के इस भय को नहीं समझ पा रहे थे कि संगति बिठाने की इस प्रक्रिया में उनकी पहचान पर विपरीत प्रभाव पड़ सकता है. वे इस बात को भी स्वीकार नहीं करते थे चूंकि हिंदुत्व एक विशाल सागर है, और अपने में समाहित कर लेने की इसकी असीम शक्ति के कारण यह खतरा हमेशा बना रहेगा कि यह अन्य धर्मों को अपने घेरे में लेकर अंतत: उन्हें आत्मसात कर ले और इस तरह उनकी सांस्कृतिक पहचान को नष्ट कर दे. इसलिए हिंदुत्व तथा अन्य धर्मों के बीच यदा-कदा संघर्ष होता रहा है. यह बात सिर्फ इस्लाम तक ही सीमित नहीं है, बल्कि जैन एवं बौद्ध धर्म पर भी लागू होती है. पर इस बात के लिए हिंदुत्व की सराहना ही हो सकती है कि सब कुछ आत्मसात कर लेने की अपनी प्रवृत्ति तथा अन्य धर्मों के साथ समय-समय पर होने वाले संघर्षों के बावजूद यह अपरिवर्तनीय विशाल समूह नहीं बना. यह हमेशा लचीला रहा है. लगता है, पटेल इस तथ्य से परिचित थे, इसीलिए उन्होंने वीर सावरकर की 'हिंदू राज' की अवधारणा का विरोध किया. सरदार के अनुसार यह अवधारणा हिंदुत्व के आधारभूत ढांचे के विरुद्ध थी. वे भारतीय संविधान के निर्माताओं में से एक थे, हिंदुओं को अपने अतीत से विरासत में मिले अनेक बुनियादी तत्त्वों को संविधान से जुड़वाने में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही थी. इसमें से एक है सर्वधर्म समभाव– सब धर्मों का समान आदर एवं सब धर्मों के अनुयायियों से समान व्यवहार. इन मूल्यों को प्रतिष्ठापित करने वाले दस्तावेज़ पर उन्होंने हस्ताक्षर किये थे. उन्होंने कहा था, इन मूल्यों ने भारत की शेष विश्व से पृथक् पहचान बनायी है. फरवरी 1949 में उन्होंने सार्वजनिक घोषणा की थी कि हिंदू राज की बात एक 'मूर्खतापूर्ण विचार' है और उन्हें विश्वास था कि उनका देश, जिसकी पुनर्रचना में उन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी, कभी भी इस विचार को स्वीकार नहीं करेगा. उनके कभी न भुलाए जा सकने वाले शब्दों में– 'यह भारत की आत्मा की हत्या कर देगा.'

यद्यपि सरकार दृढ़ निश्चयी थे, हठीले थे और कभी-कभी अक्षमाशील भी, पर बदले की भावना उनमें नहीं थी; वर्ड्सवर्थ के वे शब्द उन पर सटीक बैठते थे–

मर चुके थे उसके
भीतर के जातीय वहशी गुण,
बदले की भावना और खूंख्वार विचार
मर चुके थे,
वह बदला नहीं था,
विपत्ति के पाले विवेक को उसने
ऊंचे पायदान पर चढ़ा दिया था.

(राजकमल प्रकाशन द्वारा प्रकाशित 'सरदार पटेल तथा भारतीय मुसलमान' के अंश)

नाच-गान

उर्मिला शिरीष

शिवना प्रकाशन, पी.सी. लैब, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट बस स्टैंड, सीहोर-466001 (म.प्र.)

मूल्य - 160 ₹

तेरह कहानियों का यह संग्रह वर्तमान मानव जीवन की एक विशेष झलक उपस्थित करता है. परिवार और समाज में स्त्रियों की दशा, समाज में पनपता और बढ़ता लालच और घटती मानवीय संवेदना को विभिन्न प्रसंगों के माध्यम से कहानियों में उकेरा गया है. सामान्य-सी लगने वाली रोजमर्रा की घटनाओं द्वारा मानव मन को पढ़ने का लेखिका का प्रयास सराहनीय है.

ये मेरे शब्द

नंदकिशोर नंदन

शब्दालोक, सी-3/59, सादतपुर विस्तार, दिल्ली-90

मूल्य-170 ₹

प्राकृतिक जीवन-सौंदर्य को अभिव्यक्त करती इन रचनाओं में कवि ने ग्राम-जीवन और परिस्थितियों की तुलना आज विज्ञापनों और रुपये की ताकत से महान बना दिये गये उत्पादों से की है. यहां अज्ञात के बजाय मूर्त और साक्षात उपादानों द्वारा अपने समय के यथार्थ को उकेरा गया है. इनमें जीवन-यथार्थ इकहरा नहीं है, फूलों को देखकर भी विपन्न समाज की याद हो आती है!

उजाले तेरी यादों के

मीनाक्षी जोशी

पहले पहल प्रकाशन, 25-ए, प्रेस कॉम्प्लेक्स, भोपाल

मूल्य - 300 ₹

जीवन और प्रकृति के विभिन्न रूपों जानने और उन्हें प्रस्तुत करने का प्रयास कवयित्री ने अपने संग्रह में किया है. अतीत के खुशनुमा दृश्य का वर्णन करती और वर्तमान में आए बदलाव को इंगित करती कविताएं जहां हमें क्षणभंगुरता का भान कराती हैं वहीं भविष्य के लिए आशा का संबल भी दे जाती हैं. सरल और कम शब्दों में लिखी ये कविताएं पठनीय और मननीय हैं.

खिड़कियों से झांकती आंखें

सुधा ओम ढींगरा

शिवना प्रकाशन, पी.सी. लैब, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट बस स्टैंड, सीहोर-466001 (म.प्र.)

मूल्य-150 ₹

आठ कहानियों के इस संग्रह में कुछ पात्र अपनी स्मृतियों के माध्यम से पाठक को अतीत में ले जाते हैं, तथापि ये कहानियां अतीत के बजाय हमारे आज की कहानियां हैं, जो वर्तमान संदर्भों में मानव जीवन को को पाठक के सामने रखती हैं. इनमें भारतीयता की सुगंध है जो अपने तथ्यों और प्रस्तुति के कारण पाठक को प्रामाणिक और अपना-सा प्रतीत होती हैं.
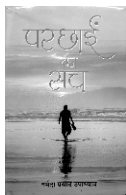
परछाईं का सच

नर्मदा प्रसाद उपाध्याय

ज्ञान विज्ञान एजूकेयर, 3639, प्रथम तल, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002 मूल्य - 350 ₹

इसमें विभिन्न आस्वाद वाले आलेख, निबंध, यात्रा वृतांत, संस्मरण और प्रश्नोत्तरों को संकलित किया गया है. लेखक ने जीवन में जो देखा-जाना और समझा तथा जिन व्यक्तियों और परिस्थितियों का इनमें योगदान रहा, उसे इन रचनाओं द्वारा पाठक तक पहुंचाया है. एक रचनाकार के भीतर उत्पन्न होने वाली जिज्ञासा तथा उसके समाधान की प्रक्रिया यहां उभरकर आयी है. वैचारिक खुराक के इच्छुक पाठकों के लिए उपयोगी.

लेडी ऑन द मून

प्रबोध कुमार गोविल

साहित्यागार, धामाणी मार्केट की गली, चौड़ा रास्ता, जयपुर-302003 मूल्य - 300 ₹

लेखक की आत्मकथा के प्रथम भाग 'इज्तिरार' के बाद यह उनकी आत्मकथा का दूसरा खंड है जिसमें जीवन की घटनाओं को चलचित्र की भांति शब्दों में उकेरा गया है. एक प्रसंग के बाद दूसरा प्रसंग अनवरत जारी रहते हैं जो कहीं भी रोचकता को कम नहीं होने देते. आत्मकथा लेखन के खतरों को पूरी तरह नकारते हुए लेखक ने अपने जीवन के 21 वर्ष तक के तमाम प्रसंगों को इसमें बेनकाब किया है.

कुछ और किताबें

- **डॉ. रवींद्र नारायण पहलवान की प्रतिनिधि कविताएं** (काव्य संकलन)
  सम्पादक : प्रभु त्रिवेदी
  काव्य रस, 187, रवींद्रनाथ टैगोर मार्ग, छावनी, इंदौर-452001 मूल्य - 230 ₹
- **धूप की कीमत** (कविता-संग्रह)
  डॉ. आर. डी. उपाध्याय
  अंतरा प्रकाशन, सी-5, प्रथम तल, ईस्ट ज्योति नगर, दिल्ली-110093 मूल्य-425₹
- **रोशनी है दांव पर** (गजल संग्रह)
  रेखा लोढ़ा 'स्मित'
  बोधि प्रकाशन, सी-46, सुदर्शनपुरा इंडस्ट्रियल एरिया एक्सटेंशन, नाला रोड, 22 गोदाम, जयपुर - 302006 मूल्य - 150 ₹
- **नरसी अग्रज तुलसी के** (शोध)
  मंजुला जोशी
  आर. के. पब्लिकेशन, 1/12 पारस दुबे सोसायटी, ओवरी पाढ़ा, एस.वी. रोड, दहिसर (पू), मुंबई-68 मूल्य - 275 ₹
- **टूटे आइने** (काव्य संग्रह)
  देवेंद्र कुमार मिश्रा
  श्री विष्णु प्रकाशन, छिंदवाड़ा-480003 (म.प्र.) मूल्य - 100 ₹
- **नई कोंपलें** (काव्य संग्रह)
  मोतीलाल आलमचंद्र
  शिवना प्रकाशन, पी.सी. लैब, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट बस स्टैंड, सीहोर-466001 (म.प्र.) मूल्य-200 ₹

शब्दों का सफ़र

आखिर क्या है ये 'सौहार्द'

● अजित वडनेरकर

शब्दों की गहराई तक गये बिना उसे इस्तेमाल की बढ़ती प्रवृत्ति के दौर में हिंदी पत्रकारिता भला इस बुराई से कैसे बची रह सकती है? आये दिन सद्भाव के संदर्भों में **सौहार्द** शब्द का प्रयोग हम पत्र-पत्रिकाओं और टीवी चैनलों पर देखते-सुनते हैं. अब यह जानने-समझने की ज़रूरत नहीं रह गयी है कि **सौहार्द** या **सौहार्द्रता** शब्द गलत है, इसका सही उच्चारण और वर्तनी है **सौहार्द** जिसका रिश्ता हार्दिकता से जुड़ता है. **सौहार्द्र** में **आर्द्रता** का जो स्पर्श है उससे **सौहार्द** में निहित भाव प्रकट नहीं होता. सौहार्द्र जैसा कोई शब्द किसी कोश में नहीं मिलेगा, मगर यह शब्द चल पड़ा है. भाषा खुद अपना रास्ता चुनती है, मगर सौहार्द का सौहार्द्र हो जाना भाखा बहता नीर वाला उदाहरण नहीं है, क्योंकि **सौहार्द्र** की तुलना में **सौहार्द** उच्चारण सहज और आसान है.

सौहार्द में जो **हार्दिकता** का भाव है, वह **हृदय** से आ रहा है. हृदय भारोपीय भाषा परिवार का शब्द है. इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत की **हृ** धातु से हुई है जिसमें मुग्ध करना, आकृष्ट करना, लेना, अधीन करना, वशीभूत करना जैसे भाव हैं. इससे ही बना है हृद जिसका अर्थ है मन या दिल. **हृ** में समाविष्ट तमाम भाव मन से जुड़े हैं. हृदयम् शब्द भी इससे ही बना है. हृदयम की व्याप्ति द्रविड़ भाषा परिवार में भी हुई है और वहां इसका रूप है **इरुतयम्** हिंदी के **हार्दिक** शब्द का अर्थ होता है दिल से. मन से, हृदय से जिसका रिश्ता है; इसी मूल से बने **हार्दम्** से जिसमें स्नेह, प्रेम, कृपा, अभिप्राय जैसे भाव शामिल हैं. बोलचाल में हृदय से बने देसी रूप भी चलन में हैं, जैसे– हिया, हिरदय, हिय आदि. इसके अलावा सहृदय, हार्दिक आदि. हृद से **सु** उपसर्ग लगने से बनता है **सुहृद** अर्थात अच्छे हृदय से या अच्छे हृदयवाला. आप्टे-कोश के मुताबिक सुहृद में **अण्** प्रत्यय लगने से बना है **सौहार्दः** या **सौहार्दम्** जिसका अर्थ है हृदय की सरलता, स्नेह, सद्भाव या मैत्रीभाव. यही है सौहार्द का मूल जिसे हम सौहार्द्र पढ़ने के अभ्यस्त हो चुके हैं. अंग्रेज़ी के **हार्ट** का **हृद** से गहरा रिश्ता है. **हार्दिकता** के **हार्द** और अंग्रेज़ी के **हार्ट** की तुलना कर ध्वनिसाम्य और अर्थसाम्य पर विचार करें.

हृदय के लिए भाषावैज्ञानिकों ने मूल इंडो-यूरोपीय धातु **कर्द** तलाश की है जिसका आधार ग्रीक का **कार्दिया**, लैटिन का **कोर**, लिथुआनी का **सिर्डिस**, या रूसी का **सर्डेस** शामिल है. इसी तरह जर्मन में **हर्ज़**, पुरानी स्पैनी में **हार्ता** और पुरानी इंग्लिश में **होर्टे** होता हुआ यह अंग्रेज़ी में **हार्ट** हो गया. लैटिन का कोर शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण है. गौरतलब है कि इंडो-यूरोपीय परिवार की भाषाओं में **क** और **स** ध्वनियों में भी रूपांतर होता है. हृद की तरह ही लैटिन कोर की मूल धातु **कॉर्द** है. इस कोर्द से ही बना है अंग्रेज़ी का **कोर** जिसका अर्थ है किसी वस्तु का आंतरिक हिस्सा, भीतरी भाग, केंद्र आदि. हृदय की शरीर में केंद्रीय स्थिति है और यह शरीर के भीतर होता है. इस अर्थ में कोर यानी हृदय. कोर शब्द से हिंदी वाले भी परिचित हैं. इससे ही बना है **कॉर्डियल** जिसे अंग्रेज़ी उच्चारण में कॉर्जल और हिंदी में **कॉर्डियल** कहा जाता है. इसमें ठीक वही भाव है जो हार्दिकता या **सौहार्द** में है. लिथुआनी में इसी कॉर्द में उपसर्ग और प्रत्यय लगने से बनता है **रिकॉर्दारी** जिसमें किसी तथ्य को दिल में जगह देने, मन में बिठाने का भाव है. बाद में इसकी अर्थवत्ता का विस्तार हुआ और दर्ज़ करना, याद रखना, किसी रजिस्टर में इंद्राज करना जैसे अर्थ भी विकसित हुए. अंग्रेज़ी का रिकॉर्ड इसी से निकला है.

हृदय का सम्बंध सोच-विचार करने से है. मलयालम में यह **करुतु** है जिसका साम्य **कॉर्ड** से जोड़ा जा सकता है. करुतु का अर्थ है सोचना, विचारना, कल्पना करना आदि. वैसे ख्यात भाषाविद् डॉ. रामविलास शर्मा द्वारा बरो और एमेनो के द्रवि व्युत्पत्ति कोश से संगृहीत शब्दों में मलयालम के **करिळ** का उल्लेख है जिसे उन्होंने इसी शब्द शृंखला का हिस्सा बताया है. द्रविड़ परिवार की ही **कोत** भाषा में यह **कर्ल** है. वे इन शब्दों की ग्रीक कॉर्दिया से तुलना करते हैं– **कर्द > कर्ल**. हिंदी का शृद्धा शब्द भी इसी परिवार का है जिसका अर्थ है आस्था, निष्ठा, भरोसा जिनका रिश्ता दिल से है. इसके अलावा मन की स्वस्थता और हृदय की शांति जैसे भाव भी इसमें हैं. हालांकि इसका अर्थ थोड़ा भिन्न है मगर रामविलास शर्मा बड़ी आसानी से इसकी हृदय से रिश्तेदारी साबित करते हैं. उनके अनुसार शृद्धा और **शृद्** और हृदय का **हृद** दरअसल एक ही हैं.

(शब्दों का सफ़र, राजकमल प्रकाशन, से साभार)

भवन समाचार

एमओसी छात्र परियोजना

मुंबई केंद्र, एसपीजेआईएमआर के पांच छात्रों– अनामिका सिन्हा, प्रज्ञा त्रिपाठी, लक्ष्मी कृष्णन, दिव्या मोदी और श्रीनाथ पिल्लई को 2019 के सर्वश्रेष्ठ एमओसी छात्र परियोजना में उपविजेता घोषित किया गया. हार्वर्ड बिजनेस स्कूल में डिनर रिसेप्शन में प्रो. माइकल पोर्टर ने यह पुरस्कार प्रदान किया. इसमें दुनिया भर के 150 से अधिक प्रोफेसर उपस्थिति थे, जो प्रतिस्पर्धा के माइक्रोइकॉनॉमिक्स (एमओसी) नेटवर्क का हिस्सा थे. एचबीएस में रणनीति और प्रतिस्पर्धा संस्थान के अंतर्गत संगठित एमओसी संबद्ध नेटवर्क, दुनिया भर में 100 से अधिक शैक्षिक संस्थानों का एक समूह है जो एमओसी पाठ्यक्रम को पढ़ाता है और प्रतिस्पर्धा के क्षेत्र में सहयोग करता है. एसपीजेआईएमआर द्वारा प्रस्तुत एमओसी छात्र परियोजना का शीर्षक था, 'अंकलेश्वर केमिकल क्लस्टर'. इसे सर्वश्रेष्ठ 2019 एमओसी छात्र परियोजना के लिए द्वितीय स्थान के रूप में चुना गया.

कोच्चि केंद्र में कुलपति के.एम. मुंशी मेमोरियल भाषण

कोच्चि केंद्र ने सरदार पटेल सभागृह में कुलपति के.एम. मुंशी मेमोरियल व्याख्यान का आयोजन किया. व्याख्याता डॉ. केएस राधाकृष्णन (श्री शंकराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय, कालडी के पूर्व कुलपति और केरल लोकसेवा आयोग के पूर्व अध्यक्ष) ने 'जिम्मेदार और मूल्यों वाली सक्षम पीढ़ी के निर्माण की शिक्षा' विषय पर अपने विचार रखे.

गोकुलम को मुंशी सम्मान

कोट्टायम केंद्र ने सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक और आर्थिक क्षेत्र में उत्कृष्ट कार्य के लिए गोकुलम समूह की कंपनियों के अध्यक्ष और सीईओ श्री गोकुलम गोपालन को कुलपति के.एम. मुंशी पुरस्कार से सम्मानित किया. यह पुरस्कार उन्हें श्री थॉमस चाजिकदान (सांसद) द्वारा प्रदान किया गया. श्री गोकुलम ने वित्तीय सेवाओं, शैक्षिक, आतिथ्य, स्वास्थ्य, विजुअल मीडिया, सिनेमा आदि में रोजगार का सृजन किया है और देश के आर्थिक विकास में सरकार के साथ काम कर रहे हैं.

सैनिकपुरी केंद्र का ४५ वां वार्षिक दिवस

भवन, **सैनिकपुरी केंद्र** के श्री रामकृष्ण विद्यालय ने अपना ४५ वां वार्षिक दिवस मनाया. स्वाति लकड़ा (आईपीएस, पुलिस महानिरीक्षक, कानून और व्यवस्था और आई/सी महिला सुरक्षा, तेलंगाना) इस अवसर पर मुख्य अतिथि थीं. लगभग ७०० छात्रों द्वारा कार्यक्रम की प्रस्तुति की गयी जिसे सबने सराहा.

सम्मान

भारतीय विद्या भवन, **कोयंबटूर केंद्र** के चेयरमैन, बी.के. कृष्णराज वनवारायर ने शहर में आयोजित भवन के पोंगल संगीत समारोह में तिरुथानी एन. स्वामीनाथन को 'संगीत सम्राट' और के.एस. रघुनाथ को 'कोवई सुबरी मुरुगा गण पुरस्कार' प्रदान किया.

प्रश्नोत्तरी विजेता

मोहाली, **पंचकुला केंद्र** के आईआईएसईआर खगोल विज्ञान क्लब द्वारा एक खगोल विज्ञान शिविर का आयोजन किया गया. कार्यक्रम में– खगोल विज्ञान प्रश्नोत्तरी, पंजाब विश्वविद्यालय के प्रोफेसर साहिज पाल का व्याख्यान और विज्ञान शो के रूप में विभिन्न खगोलीय घटनाओं का प्रदर्शन किया गया. प्रश्नोत्तरी के लिखित दौर में, ट्राइसिटी के विभिन्न स्कूलों की 30 टीमों ने भाग लिया. भवन के ग्यारहवीं कक्षा के विज्ञान के छात्रों– भावज सिंगला, श्रेय स्याल और गर्व बंसल को विजेता घोषित किया गया. भवन के बारहवीं कक्षा के विज्ञान के छात्रों– भाविक बंसल, उत्कर्ष राय और रजत शिओखंड द्वितीय स्थान पर रहे.

वार्षिक खेल बैठक

कोलकाता केंद्र, भवन के गंगाबक्स कनोरिया विद्यामंदिर की वार्षिक खेल प्रतियोगिता का आयोजन किया गया. श्री मृदुल बनर्जी (कोच और पूर्व फुटबॉलर) मुख्य अतिथि थे. कार्यक्रम की शुरुआत, चार सदनों और एनसीसी कैडेट्स के छात्रों द्वारा मार्च पास्ट के बाद एक स्वागत नृत्य के साथ हुई. इसके बाद कक्षा छह और सात के छात्रों द्वारा ड्रिल और हूला हूप की प्रस्तुति की गयी. एथलेटिक कार्यक्रम दिन का मुख्य आकर्षण थे. वार्षिक खेल बैठक का समापन पुरस्कार वितरण समारोह और उत्कृष्ट सदन की घोषणा के साथ हुआ.

नडियाद केंद्र के छात्रों का उत्कृष्ट प्रदर्शन

नडियाद केंद्र ने शिक्षा और पाठ्येतर गतिविधियों में बेहतरीन प्रदर्शन किया. भवन के श्रीमती एम.के. पटेल स्कूल के लिए वह गर्व का क्षण था जब सातवीं कक्षा के छात्रों ने गुजरात के लोक नृत्य, गरबा प्रस्तुति में प्रथम स्थान प्राप्त किया. विद्यालय की गायक मंडली 'कला महाकुंभ-राज्य स्तरीय कार्यक्रम' में प्रथम स्थान पर रही. शास्त्रीय गायक कुमकुम सोनी(कक्षा-11) ने लोकगीत/भजन में प्रथम स्थान तथा अलगु पारी(कक्षा-8) को 'लाइट वोकल' में पहला स्थान मिला. मीर टी. मिस्त्री(कक्षा-7) हारमोनियम में तालुका स्तर पर प्रथम स्थान पर रहीं. श्रीजी पटेल(कक्षा-11) ने 'राष्ट्रीय कराटे चैम्पियनशिप' के अंडर-18 वर्ग में रजत और कांस्य पदक तथा वृंद कंसारा (कक्षा-9) ने राज्यस्तरीय शिविर में आयोजित विद्यार्थी विज्ञान मंथन में तीसरा स्थान प्राप्त किया.

अभिभावकों का सकारात्मक व्यवहार

भवन के **जयपुर केंद्र** ने महाराणा प्रताप सभागार में जिंदल इंस्टीट्यूट ऑफ बिहेवियरल साइंसेज के साथ अभिभावकों के सकारात्मक व्यवहार पर एक सेमिनार का आयोजन किया. प्रसिद्ध व्यवहार वैज्ञानिक प्रो. संजीव पी. साहनी (प्रमुख निदेशक, जिंदल इंस्टीट्यूट ऑफ बिहेवियरल साइंसेज) ने संगोष्ठी का संचालन किया. संगोष्ठी में समग्र विकास के लिए बच्चे की क्षमता को सामने लाने में कठिनाइयों और उपचारात्मक रणनीतियों पर प्रकाश डाला गया.

कोदुंगल्लूर केंद्र का २३ वां वार्षिक दिवस

कोदुंगल्लूर केंद्र, भारतीय विद्या भवन के विद्या मंदिर ने अपना 23 वां वार्षिक दिवस धूमधाम से मनाया. समारोह के मुख्य अतिथि श्री. पी.आई. शेरिफ मोहम्मद (भवन के पथनमथित्ता केंद्र के सचिव,) और अध्यक्ष प्रो. पी.एन.के. मेनन (कोडुंगल्लूर केंद्र के उपाध्यक्ष) थे. उद्घाटन समारोह के बाद, विद्यालय के छात्रों ने विभिन्न सांस्कृतिक कार्यक्रमों का मंचन किया.

संस्कृति समाचार

'वाग्धारा नवरत्न सम्मान'

अंधेरी, मुंबई के मुक्ति ऑडिटोरियम में आयोजित हुए वाग्धारा के चौथे नवरत्न सम्मान समारोह में उत्तर प्रदेश के पूर्व राज्यपाल राम नाईक और महाराष्ट्र के पूर्व मुख्यमंत्री नारायण राणे के हाथों वाग्धारा जीवन गौरव सम्मान– सुरेखा सीकरी(अभिनेत्री) और नादिरा ज़हीर बब्बर(रंगकर्मी) को दिया गया तथा वाग्धारा नवरत्न सम्मान– आलोक पुराणिक(व्यंग्यकार) दिल्ली, गीत चतुर्वेदी(काव्य) भोपाल, जितेंद्र दीक्षित(टीवी पत्रकारिता) मुंबई, धवल कुलकर्णी (पत्रकारिता) मुंबई, ओम कटारे(रंगमंच), जयंत खोत(संगीत) प्रयागराज, गजेंद्र अहिरे(सिनेमा), सुकेश कुमार(शिक्षा), डी. शिवानंदन (समाजसेवा) मुंबई एवं वाग्धारा यंग अचीवर्स अवॉर्ड– पुष्कर गुलगुले(नवी मुंबई), पंकज प्रसून(लखनऊ), संजू शब्दिता(अमेठी), देव फौजदार(मथुरा) को प्रदान किया गया. वाग्धारा गुरुशिष्य गौरव सम्मान– यशस्वी जायसवाल(क्रिकेटर) और ज्वाला सिंह(क्रिकेट कोच) को दिया गया. इस अवसर पर सागर त्रिपाठी, स्मिता ठाकरे, नादिरा जहीर बब्बर सहित अनेक साहित्यकार कलाकार तथा सुधीजन उपस्थित थे.

काव्य कुसुम सम्मान

साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक संस्था काव्यसृजन के संस्थापक पंडित शिवप्रकाश जौनपुरी नाथद्वारा साहित्य मंडल राजस्थान द्वारा 'काव्य कुसुम सम्मान' से सम्मानित किये गये. राष्ट्रीय स्तर पर तीन दिन तक चला यह आयोजन साहित्य मंडल के संस्थापक स्व. भगवती प्रसाद देवपुरा की पुण्य स्मृति में किया गया था.

'बिहार की लोककथाएं' पुस्तक का लोकार्पण

नई दिल्ली स्थित अकैडमी आफ फाइन आर्ट्स एंड लिटरेचर के म्यूजियम हॉल में डायलॉग कार्यक्रम के अंतर्गत पुस्तक लोकार्पण और परिचर्चा का आयोजन किया गया. इस अवसर पर राष्ट्रीय पुस्तक न्यास से प्रकाशित रणविजय राव द्वारा संकलित और संपादित 'बिहार की लोककथाएं' पुस्तक का लोकार्पण किया गया. इसी पुस्तक को केंद्र में रखकर वक्ताओं ने 'जीवन और साहित्य में लोककथाओं का योगदान' विषय पर अपनी बात रखी. कार्यक्रम में अध्यक्ष मैनेजर पांडेय, मुख्य अतिथि प्रेम जनमेजय और विशिष्ट अतिथि प्रेम कुमार मणि ने अपने विचार रखे. सान्निध्य मिथिलेश श्रीवास्तव का रहा. स्वागत वक्तव्य दिया दिल्ली विश्वविद्यालय में प्राध्यापक अरविंद मिश्रा ने. विशिष्ट वक्ताओं में कमला कौशिक, राकेश रेणु और रेणुका अस्थाना ने अपनी बात रखी. कवि मिथिलेश श्रीवास्तव, प्राध्यापक अरविंद मिश्रा, कमला कौशिक, कवि राकेश रेणु, कथाकार रेणुका अस्थाना ने संकलन के संदर्भ में अपना मत प्रकट किया. संचालन वेद प्रकाश सिंह ने किया.

'चित्रा मुद्गल संचयन' का लोकार्पण

मुंबई विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग द्वारा आयोजित कार्यक्रम में डॉ. करुणाशंकर उपाध्याय द्वारा संपादित ग्रंथ 'चित्रा मुद्गल संचयन' का लोकार्पण किया गया. इस अवसर पर विजयशंकर प्रसाद, डॉ. अशोक प्रियदर्शी, कुलपति डॉ. सुहास पेडणेकर, डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, चित्रा मुद्गल और डॉ. अवधेश प्रधान उपस्थित थे. इसमें चित्रा मुद्गल के उपन्यास, कहानी, लघुकथा, यात्रा, कथात्मक रिपोर्ताज, शब्द और मैं, आख्यान और वक्तव्य, संस्मरण, लेख, बाल उपन्यास, बाल कहानी, स्तम्भ लेखन, भूमिका और कविता समेत चौदह खंड हैं.

लघुकथा

मां

बाप काम पर चला गया था. मां ढेर सारे कपड़े लेकर नहर पर चली गयी. वह अभी घर से बाहर निकली ही थी कि साथ के तीन-चार बच्चे खेलने आ गये.

'चलो आज घर-घर खेलते हैं.'

'पहले हम खाना बनायेंगे. तू जाकर लकड़ी बीन ला और तू यहां सफाई कर दे.'

'ऐसे नहीं, पहले आग जला.'

'मैं तो इधर बैठूंगी.'

'चल हम दोनों कपड़े धोते हैं.'

'नहीं, पहले बैठो, खाना खा लो.'

'मैं तो इसमें लूंगा.'

'अरे, भात खत्म हो गया... इतने सारे लोग आ गये... चलो तुम लोग खा लो, मैं बाद में खा लूंगी.'

'तू मां बनी है क्या?'

– प्रबोध कुमार गोविल

Printed and Published by P.V. Sankarankutty on behalf of Bharatiya Vidya Bhavan, printed at Maoolee Prints & Arts, Gala No. 9/A, Ground Floor, Byculla Service Industrial Estate, D.K. Cross Road, Byculla (East), Mumbai - 400 027 and published for Bharatiya Vidya Bhavan, Plot No. 33/35, Gr. + 4 Floor, K.M. Munshi Marg, Chowpatty, Mumbai - 400 007. **Editor : Vishwanath Sachdev**

बैंक ऑफ़ बड़ौदा
Bank of Baroda
विजया VIJAYA
देना DENA

Total Page 148 Date of Publication : 23rd of every previous month
RNI. : MAHHIN/2015/62469 Registration No. : MCW/330/2018-20
Posted on Mumbai Patrika Channel Sorting Office, Mumbai - 400001
on 27th and 28th of every previous month.